www.psdgraphics.com

साहित्य सिद्धान्त और आलोचना

(Literature Theory and Criticism)

सुधा शर्मा

साहित्य सिद्धांत और आलोचना

साहित्य सिद्धांत और आलोचना
(Literature Theory and Criticism)

सुधा शर्मा

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5593-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भाषा के माध्यम से अपने अंतरंग की अनुभूति, अभिव्यक्ति कराने वाली ललित कला 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलाती है। साहित्य की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर इस शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत किए गए है। 'त' प्रत्यय के योग से साहित्य शब्द निर्मिति हुई है। शब्द और अर्थ का सहभाव ही साहित्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार हितकारक रचना का नाम साहित्य है।

साहित्य शब्द का प्रयोग 7-8 वीं शताब्दी से मिलता है। इससे पूर्व साहित्य शब्द के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता था। भाषा विज्ञान का यह नियम है, कि जब एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होता है, तो उनमें से एक अर्थ संकुचित या परिवर्तित होता है। संस्कृत में जब एक ही अर्थ में साहित्य और काव्य शब्द का प्रयोग होने लगा तो धीरे-धीरे काव्य शब्द का अर्थ संकुचित होने लगा। आज काव्य का अर्थ केवल कविता है और साहित्य शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाता है। साहित्य का तात्पर्य अब कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा अर्थात गद्य और पद्य की सभी विधाओं से है।

काव्य के स्वरूप को लेकर उसे परिभाषित करने का प्रयास ईसा पूर्व 200 से अब तक हो रहा है। विविध विद्वानों ने साहित्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसे परिभाषित करने का प्रयास किया। किंतु इन प्रयासों में कहीं अतिव्याप्ति, तो कहीं अव्याप्ति का दोष है। काव्य को परिभाषित करते समय यह विद्वान अपने समकालीन साहित्य तथा साहित्य विषयक धारणाओं से प्रभावित रहे हैं।

आलोचना मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सैद्धांतिक आलोचना एक प्रकार से काव्यशास्त्र का ही दूसरा नाम है। लेकिन यह आलोचना का केवल एक पक्ष है। केवल सिद्धांत। विवेचन आलोचना नहीं है और न ही बने-बनाये सिद्धांतों के आधार पर सदा साहित्य-समीक्षा की जा सकती है। समय और परिस्थितियों के अनुसार ये सिद्धांत और उनके बंधन बदलते और टूटते रहते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में बहुत से दृश्यों और प्रसंगों का निषेध किया था, परंतु आज के नाटकों में वे निषिद्ध प्रसंग मौजूद हैं। किसी समय धीरोदात्तता नायक का अनिवार्य गुण था, किंतु आज यह अप्रासंगिक है। नयी कविता, नयी कहानी, अकविता-अकहानी के नायक खंडित, टूटे-पराजित और क्षुब्ध हैं।

आधुनिक साहित्य में आम आदमी और उसकी समस्याओं पर रचनाकार की दृष्टि केंद्रित है, राजाओं, राजकुमारों के प्रेम-प्रसंगों और युद्धों पर नहीं। छंद और अलंकार शास्त्र में पारंगत होना किसी समय कवियों की प्रतिभा की कसौटी था, परंतु आज की कविता, छंदों-अलंकारों के कठोर अनुशासन से मुक्त है। भारतीय परंपरा में प्रायः सभी रचनाओं का अंत, सुखमय होता था, किंतु पश्चिम के प्रभाव से दुःखान्त रचनाओं को भी महत्त्व मिलने लगा। मध्यकाल तक के साहित्य की परीक्षा किसी सीमा तक काव्यशास्त्रीय मानकों के आधार पर की जा सकती है, लेकिन आधुनिक काल के साहित्य के लिए उन्हीं मानकों को पूर्णतः आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरे जो सिद्धांत या मानक कविता के लिए बनाये गये हैं, वे साहित्य की अन्य विधाओं- कथा साहित्य, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि के लिए भी उपयुक्त हो, यह आवश्यक नहीं है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करती हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**आलोचना साहित्य**	**1**
	आलोचना का कार्य	1
	प्रकार	2
	सैद्धांतिक आलोचना	2
2.	**काव्य सिद्धांत**	**26**
	काव्यशास्त्र	26
	प्राचीनता	27
	परिचय	28
3.	**रस का परिचय**	**39**
	स्थायी भाव	52
4.	**अरस्तु का विरेचन सिद्धांत**	**53**
	परिचय	58
	विरेचन का स्वरूप	59
	कलापरक अर्थ	60
5.	**स्वच्छन्दतावाद**	**64**
	परिचय	67
	रोमानी दृश्य कला	79
	कला रूप	83

6. उत्तर आधुनिकतावाद **88**
वर्तमान दृष्टिकोण 90
आधुनिकतावाद का इतिहास 90
सदी परिवर्तन 94
विस्फोट, 1910–1930 98
इलस्ट्रेशन ऑफ स्पिरिट ऑफ सेंट लुइस 100
दूसरी पीढ़ी, 1930–1945 102
पॉप कला 106
नव–डाडा 109
आंदोलन के लक्ष्य 114
7. मुक्तिबोध के प्रमुख समालोचक **126**
भारतेन्दु हरिश्चंद्र 126
जीवन परिचय 127
साहित्यिक परिचय 128
निबंध संग्रह 130
भाषा 133
महत्त्वपूर्ण कार्य 134
साम्राज्य–विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास 136
महावीर प्रसाद द्विवेदी 139
जीवन परिचय 140
आलोचनात्मक शैली 145
विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली 146
महत्त्वपूर्ण कार्य 146
बालकृष्ण भट्ट 147
जीवन परिचय 147
प्रमुख रचनाएँ 152
श्यामसुन्दर दास 154
जीवनी एवं हिन्दीसेवा 155
ग्रंथ–रचना 156
साहित्य सेवा और स्थान 160
रचनात्मक वैशिष्ट्य 172

1

आलोचना साहित्य

आलोचना शब्द लुच' धातु से बना है। लुच' का अर्थ होता है- 'देखना'। इसीलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही 'आलोचना' है- 'आ समंतात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्। समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द के समानार्थी रूप में 'आलोचना' का व्यवहार होता है। भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और काव्य-सिद्धांत आदि के निरूपण के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्पष्ट मत है कि 'आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धांत निरूपण से स्वतंत्र चीज है।

आलोचना का कार्य

आलोचक किसी कवि या लेखक की कृति को देखता है या परखता है। आलोचना कवि या लेखक और पाठक के बीच कीशृंखला है। राजशेखर ने कवि कर्म को प्रकाश में लाना ही भावयित्री प्रतिभा अथवा आलोचक की प्रतिभा कहा है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यिक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और अर्थ व्यवस्था का निर्धारण करना।

'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'

यानि कि 'आलोचना का कर्त्तव्य साहित्यिक कृति की विश्लेषणपरक व्याख्या है। साहित्यकार जीवन और अनुभव के जिन तत्वों के संश्लेषण से साहित्य की रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्वों का विश्लेषण करती है। साहित्य में जहाँ रागतत्व प्रधान है, वहीं आलोचना में बुद्धि तत्व। आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और शक्तियों का भी आकलन करती है और साहित्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है। व्यक्तिगत रुचि के आधार पर किसी कृति की निन्दा या प्रशंसा करना आलोचना का धर्म नहीं है। कृति की व्याख्या और विश्लेषण के लिए आलोचना में पद्धति और प्रणाली का महत्त्व होता है। आलोचना करते समय आलोचक अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि से तभी बच सकता है, जब वह पद्धति का अनुसरण करे। वह तभी वस्तुनिष्ठ होकर साहित्य के प्रति न्याय कर सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

प्रकार

अधिकांशत: आलोचना करते समय, जिन मान्यताओं और पद्धतियों को स्वीकार किया जाता है, उनके अनुसार आलोचना के प्रकार विकसित हो जाते हैं। इसके निम्नलिखित चार प्रकार स्वीकार किये गए हैं-

1. सैद्धांतिक
2. निर्णयात्मक
3. प्रभावाभिव्यंजक
4. व्याख्यात्मक।

सैद्धांतिक आलोचना

इस आलोचना में साहित्य के सिद्धांतों पर विचार होता है। इसमें प्राचीन शास्त्रीय काव्य के अंगों, जैसे- रस, अलंकार आदि और साहित्य की आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों की मुख्य रूप से विवेचना की जाती है। सैद्धांतिक आलोचना में विचार का बिन्दु यह है कि साहित्य का मानदंड शास्त्रीय है या ऐतिहासिक। मानदंड का शास्त्रीय रूप, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है। किन्तु मानदंडों को ऐतिहासिक श्रेणी मानने पर उनका स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है। इन दोनों प्रकार की सैद्धांतिक आलोचनाएँ उपलब्ध है,

परन्तु अब उसी सैद्धांतिक आलोचना का महत्त्व अधिक है, जो साहित्य के तत्वों और नियमों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रगतिशील होती है।

निर्णयात्मक आलोचना

इस प्रकार की आलोचना में निश्चित सिद्धांतों के आधार पर जब साहित्य के गुण-दोष, श्रेष्ठ-निकृष्ट का निर्णय कर दिया जाता है, तब उसे निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं। इसे एक प्रकार की नैतिक आलोचना भी माना जाता है। इसका मुख्य स्वभाव न्यायाधीश की तरह साहित्यिक कृतियों पर निर्णय देना है। ऐसी आलोचना प्रायः ही सिद्धांत का यांत्रिक ढंग से उपयोग करती है। इसलिए निर्णयात्मक आलोचना का महत्त्व कम हो जाता है। यद्यपि मूल्य या श्रेष्ठ साहित्य और निकृष्ट साहित्य का बोध पैदा करना आलोचना के प्रधान धर्मों में से एक है, लेकिन वह सिद्धांतों के यांत्रिक उपयोग से संभव नहीं है।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना

इस आलोचना में काव्य का जो प्रभाव आलोचक के मन पर पड़ता है, उसे वह सजीले पद-विन्यास में व्यक्त कर देता है। इसमें वैयक्तिक रुचि ही मुख्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार-

'प्रभावाभिव्यंजक समालोचना कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं है, न ज्ञान के क्षेत्र में उसका मूल्य है न भाव के क्षेत्र में।'

व्याख्यात्मक

व्याख्यात्मक आलोचना में किसी साहित्यिक कृति में निहित अनुभव की वास्तविकता और उसके कला-विवेक को समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्याख्यात्मक आलोचना में कविता और साहित्य तथा उसके सिद्धांतों को अंतिम और पूर्ण नहीं मान लिया जाता है। वह मानती है कि जीवन और ज्ञान के विकासमान संदर्भ में साहित्य और उसके मानदंड भी विकसित होते रहते हैं। इसलिए व्याख्यात्मक आलोचना साहित्य पर विचार और विश्लेषण करते समय इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का उपयोग आवश्यक रूप से करती है। इस प्रकार की आलोचना में जब कृति की व्याख्या करते समय उसकी

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अधिक बल हो तो उसे ऐतिहासिक आलोचना कहा जाता है। इसी प्रकार जब मनोविज्ञान के तत्वों पर बल देकर कृति की वास्तविकता की व्याख्या होती है तो उसे मनोवैज्ञानिक आलोचना कहते हैं।

प्रगतिवादी आलोचना

साहित्य की व्याख्या-सराहना जब ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर होती है, जिसमें समाज की वर्गीय स्थितियों और संघर्षों से मनुष्य के अनुभव का निर्माण होता है, तब उसे 'प्रगतिवादी आलोचना' कहा जाता है। वर्तमान काल में रूपवादी और संरचनावादी आलोचना का भी चलन हो गया है। इस कोटि की आलोचना में साहित्य का रूपपक्ष और रचना-विन्यास ही मुख्य होता है। यह आलोचना साहित्य में 'भाव वस्तु', जिसे अंग्रेजी में कंटेंट कहा जाता है, को गौण मानती है।

आलोचला का उद्देश्य

लेखक अपनी रचना के माध्यम से क्या कहना चाहता है।

लेखक अपने कथ्य को संप्रेषित करने में सफल हो सका है या नहीं, यदि सफल हुआ है तो किस सीमा तक सफल हुआ है। इसके साथ-साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि रचनाकार अपनी रचना के माध्यम से जो कुछ भी अभिव्यक्त करना चाहता है, या कर पाया है, उसकी प्रासंगिकता क्या है? वह अभिव्यक्त करने योग्य भी है या नहीं? आलोचना के उसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर, डॉ. 'यामसुन्दर दास ने लिखा था- 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में, '...हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि जो मूल्य रचनाकार ने रचना में मूर्तिमान किये हैं उनका मानव जगत् के साथ क्या संबंध है, अथवा लोक. चेतना के संदर्भ में किसी भी भाँति की चेतना का क्या मूल्य है।'

बहुधा आलोचना को रचनाकार व्यक्तिगत आलोचना मान कर दु:खी, निराश या नाराज हो जाता है। कुछ आलोचक भी अपनी आलोचना के माध्यम से किसी रचनाकार को उठाने और किसी को गिराने के लिए प्रयत्न करते हैं। किंतु इस संदर्भ में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि स्वस्थ आलोचना व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित होती है। स्वस्थ आलोचना सदा रचना से संबंध रखती है। रचनाकार और आलोचक के व्यक्तिगत संबंधों से वह प्रभावित नहीं होनी चाहिए।

'आलोचना स्वस्थ मन से साहित्य या कला का अध्ययन करना और उसके सौंदर्य को परखना सिखाती है। यही उसका परम कर्त्तव्य है।'

अच्छे आलोचक के गुण

एक अच्छे आलोचक में इन गुणों का होना आवश्यक है- निष्पक्षता, साहस, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, इतिहास और वर्तमान का सम्यक ज्ञान, देशी-विदेशी साहित्य और कलाओं का ज्ञान, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता और मननशीलता। इन गुणों के अभाव में कोई आलोचक किसी रचना के ऊपरी गुण-दोष तो रेखांकित कर सकता है, उसके अंदर तक पैठ पाने की क्षमता उसके पास नहीं होती। ऐसी पल्लवग्राही आलोचनाएँ न तो पाठकों को कोई दिशा दे पाती हैं और न ही रचना के साथ न्याय कर पाती हैं।' ...निष्ट रचना उतनी हानिकारक नहीं होती, जितनी एक निष्ट आलोचना।'

आलोचना तथा काव्यशास्त्र में अंतर

आलोचना और काव्यशास्त्र के अन्तर को समझने के लिए काव्यशास्त्र के अर्थ को समझना भी आवश्यक है।

काव्यशास्त्र

अर्थ-काव्य या साहित्य का मूल्यांकन करने वाला या साहित्य सौंदर्य की परख करने वाला शास्त्रा (विधा) काव्यशास्त्र कहलाता है।' हिन्दी साहित्य कोश में भी काव्यशास्त्र का यही अर्थ दिया गया है। काव्य के अनुशीलन के लिए जिस शास्त्रा का ज्ञान आवश्यक है, वही काव्यशास्त्र है। काव्यशास्त्री राजशेखर का मत है- जैसे दीपक के प्रकाश के बिना पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असंभव है। आगे उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है-'शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विधा (शास्त्र) साहित्य विधा है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य-साहित्य के उन मानदंडों पर विचार किया जाता है, जिनके आधार पर किसी रचना की परीक्षा की जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक दृष्टिकोणों से इन मापदंडों पर विचार किया जाता रहा है। जैसे- काव्य की आत्मा क्या है- रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोति का औचित्य? काव्य के हेतु क्या हैं? काव्य के लक्षण कौन से है? किस प्रकार की कविता कौन से छंदों में बाँधने योग्य है? काव्य का रूप क्या है? बाद में

नायक-नायिका भेद भी इस शास्त्र से जुड़ गये। पश्चिम में भी अनेक विचारकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया। अरस्तू, प्लेटो, क्रोचे, मैथ्यू आर्नल्ड, आई.ए. रिचर्डस आदि अनेक नाम इस संदर्भ में गिनाये जा सकते हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों के निष्कर्ष अपने समय के साहित्य और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में थे।

आलोचना मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सैद्धांतिक आलोचना एक प्रकार से काव्यशास्त्र का ही दूसरा नाम है। लेकिन यह आलोचना का केवल एक पक्ष है। केवल सिद्धांत। विवेचन आलोचना नहीं है और न ही बने-बनाये सिद्धांतों के आधार पर सदा साहित्य-समीक्षा की जा सकती है। समय और परिस्थितियों के अनुसार ये सिद्धांत और उनके बंधन बदलते और टूटते रहते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में बहुत से दृश्यों और प्रसंगों का निषेध किया था, परंतु आज के नाटकों में वे निषिद्ध प्रसंग मौजूद हैं। किसी समय धीरोदात्तता नायक का अनिवार्य गुण था, किंतु आज यह अप्रासंगिक है। नयी कविता, नयी कहानी, अकविता-अकहानी के नायक खंडित, टूटे-पराजित और क्षुब्ध हैं। आधुनिक साहित्य में आम आदमी और उसकी समस्याओं पर रचनाकार की दृष्टि केंद्रित है, राजाओं, राजकुमारों के प्रेम-प्रसंगों और युद्धों पर नहीं। छंद और अलंकार शास्त्र में पारंगत होना किसी समय कवियों की प्रतिभा की कसौटी था, परंतु आज की कविता, छंदों-अलंकारों के कठोर अनुशासन से मुक्त है। भारतीय परंपरा में प्रायः सभी रचनाओं का अंत, सुखमय होता था, किंतु पश्चिम के प्रभाव से दुःखान्त रचनाओं को भी महत्त्व मिलने लगा। मध्यकाल तक के साहित्य की परीक्षा किसी सीमा तक काव्यशास्त्रीय मानकों के आधार पर की जा सकती है, लेकिन आधुनिक काल के साहित्य के लिए उन्हीं मानकों को पूर्णतः आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरे जो सिद्धांत या मानक कविता के लिए बनाये गये हैं, वे साहित्य की अन्य विधाओं- कथा साहित्य, यात्रा-वृत्ताांत, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि-के लिए भी उपयुक्त हो, यह आवश्यक नहीं है। व्यावहारिक आलोचना में कभी सिद्धांतों का सहारा लिया जाता है, कभी रचनाकार के जीवन और उसकी परिस्थितियों का, कभी इतिहास और समाजशास्त्र का और कभी उस रचना के समग्र प्रभाव का।

साहित्य का स्वरूप एवं परिभाषा

साहित्य शब्द का विग्रह दो तरह से किया जा सकता है। सहित = सहित = सहभाव, अर्थात हित का साथ होना ही साहित्य है। साहित्य शब्द अंग्रेजी के Literature का पर्यायी है, जिसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द Letter से हुई है।

साहित्य का स्वरूप

भाषा के माध्यम से अपने अंतरंग की अनुभूति, अभिव्यक्ति करानें वाली ललित कला 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलाती है। साहित्य की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर इस शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत किए गए है। त' प्रत्यय के योग से साहित्य शब्द की निर्मिति हुई है। शब्द और अर्थ का सहभाव ही साहित्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार हितकारक रचना का नाम साहित्य है।

साहित्य शब्द का प्रयोग 7-8 वीं शताब्दी से मिलता है। इससे पूर्व साहित्य शब्द के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता था। भाषा विज्ञान का यह नियम है, कि जब एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होता है, तो उनमें से एक अर्थ संकुचित या परिवर्तित होता है। संस्कृत में जब एक ही अर्थ में साहित्य और काव्य शब्द का प्रयोग होने लगा तो धीरे-धीरे काव्य शब्द का अर्थ संकुचित होने लगा। आज काव्य का अर्थ केवल कविता है और साहित्य शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाता है। साहित्य का तात्पर्य अब कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा अर्थात गद्य और पद्य की सभी विधाओं से है।

काव्य के स्वरूप को लेकर उसे परिभाषित करने का प्रयास इ.स.पूर्व 200 से अब तक हो रहा है। विविध विद्वानों ने साहित्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसे परिभाषित करने का प्रयास किया। किंतु इन प्रयासों में कहीं अतिव्याप्ति, तो कहीं अव्याप्ति का दोष है। काव्य को परिभाषित करते समय यह विद्वान अपने समकालीन साहित्य तथा साहित्य विषयक धारणाओं से प्रभवित रहे हैं।

संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का विवेचन निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है -

अ. संस्कृत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषाएं -

संस्कृत साहित्य में साहित्य स्वरूप विश्लेषण का प्रारंभ आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से माना जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का प्रमुख्य विवेच्य विषय नाट्य है, लेकिन प्रसंगवश साहित्य स्वरूप का विश्लेषण भी इसमें हुआ है।

साहित्य स्वरूप को स्वतंत्र रूप से विश्लेषित करने का प्रथम प्रयास 'अग्निपुरान' में देखा जा सकता हे। जिसके रचयिता वेदव्यास जी हैं।

1. आचार्य भामह

अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में साहित्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं -

'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'

भामह प्रथम आचार्य है, जिन्होंने काव्य लक्षण देते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। काव्य के लिए शब्द और अर्थ की संगति आवश्यक है। शब्द दो प्रकार के होते है- सार्थक और निरर्थक। काव्य में सार्थक शब्दों का ही महत्त्व होता है, क्योंकि सार्थक शब्दों में ही अर्थ प्रतिति कराने की क्षमता होती है।

किंतु भामह के इस मत आक्षेप लेते हुए कहा जाता है कि शब्द और अर्थ का सहभाव तो शास्त्रों की पुस्तकों में भी होता है। मात्र उसे हम साहित्य की श्रेणी में नहीं रखते।

2. आचार्य दंडी

'शरीर तावद् इष्टार्थ व्यावच्छिन पदावली।'

अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में काव्य को परिभाषित करते हुए दंडी ने कहा है कि काव्य का शरीर तो इष्ट अर्थ से युक्त पदावली होता है। यहां इष्टार्थ का अर्थ हैं - अभिप्रेत अर्थ, अपेक्षित अर्थ। इस अर्थ को दंडी ने काव्य न मानकर काव्य का शरीर माना है।

दंडी के इस मत पर भी आक्षेप लेते हुए कहा गया है कि दंडी ने यहां काव्य के शरीर के बारे में बताया है। मात्र आत्मा के संबंध में नहीं।

3. आचार्य वामन

'रीतिरात्मा काव्यस्य् विशिष्ट पदावलिः रीति।'

आचार्य वामन के ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र' के अनुसार काव्य की आत्मा रीति होती है और विशिष्ट पदावलि ही रीति है। वामन ने इस परिभाषा में विशिष्ट पदरचना को काव्य का शरीर माना है एवं रीति को काव्य की आत्मा माना है।

वामन के इस मत पर आक्षेप लेते हुए कहा गया है कि उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है और पदरचना भी। जब कि पदरचना काव्य का बाहय पक्ष मात्र है,अर्थात शरीर है, तो वह आत्मा कैसे हुई ?

4. आचार्य विश्वनाथ

'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' अथवा

'वाक्यं रसात्मकें काव्यं'

आचार्य विश्वनाथ अपने ग्रंथ 'साहित्यदर्पन' में कहते हैं - रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। यहां वाक्य का तात्पर्य उन शब्दों से है, जो अर्थयुक्त हो। अर्थात सार्थक शब्द ही से वाक्य बनते है, उनके 'रसात्मक' शब्द में काव्य की अनुभूति है।

5. आचार्य मम्मट

श्तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृति पुनःक्यापि।'

'काव्यप्रकाश' इस ग्रंथ में आचार्य मम्मट कहते हैं कि दोषरहित और गुणसहित शब्दार्थ ही काव्य है, जो कभी-कभी अलंकारों से रहित भी होते हैं।

6. पंडित जगन्नाथ

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्'

'रसगंगाधर' इस ग्रंथ में जगन्नाथ के द्वारा दी गई व्याख्या कुछ इस प्रकार है - रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। यहां रमणीय का अर्थ है, आनंद प्रकट करने वाला। पंडित जगन्नाथ 'रमणीय' का अर्थ चमत्कार पूर्ण आल्हाद् मानते है।

मात्र जगन्नाथ के मत पर भी आक्षेप लेते हुए कहा गया कि काव्य का निर्माण मात्र रमणीयता को लेकर ही नहीं होता। उसमें दुःख का भी समावेश होता है।

इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य की कुछ परिभाषाओं को देखा जा सकता है।

आ. हिंदी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा

हिंदी के विद्वानों के अनुसार लक्षण ग्रंथों के निर्माण की परंपरा आचार्य केशवदास से मानी जाती है। अतः हिंदी साहित्य शास्त्र का प्रारंभ उन्हीं से माना जायेगा । आदिकाल में काव्य अंगों का भले ही गंभीर अध्ययन ना हुआ हो, लेकिन कवियों ने काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, भाषा प्रयोग आदि के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं।

भक्तिकाल के कवियों की उक्तियों में भी साहित्य के लक्षण प्राप्त होती है। जैसे-कबीर कहते हैं -

'तुम जीन जानो गीत है, यह नीज ब्रह्म विचार।'

वैसे साहित्य को परिभाषित करने का विचार रीतिकाल में प्रखरता से होने लगा। किन्तु मध्यकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं में मौलिक चिंतन का अभाव रहा। वैसे संस्कृत के किसी-न-किसी आचार्य का वह अनुवाद करते रहे। इनमें केशवदास, चिंतामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, कवि ठाकुर आदि है।

संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में प्राप्त साहित्य परिभाषाओं समान हिंदी विद्वानों ने भी विशिष्ट मत या विचार को सामने रख कर साहित्य परिभाषा प्रस्तुत की। जिन्हें निम्नानुसार देखा जा सकता है।

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी–जो प्रभावशाली रचना पाठक और श्रोता के मन पर आनंददाई प्रभाव डालती है, कविता कहलाती है। इनके अनुसार काव्य में विलक्षणता होती है, जिसमें आनंद निर्माण करने की क्षमता होती है।

2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल–साहित्य की परिभाषा के संदर्भ में इनके दो मत देखें जा सकते हैं।

i. जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

ii. कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है।

3. आचार्य श्यामसुंदर दास

काव्य वह है, जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करें।

4. जयशंकर प्रसाद

काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं होता। वह एक रचनात्मक ज्ञानधारा है।

5. डॉ. नगेंद्र

सरस शब्दार्थ का नाम काव्य है।

इ. पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का प्रारंभ प्लेटो से माना जाता है। तत्कालीन साहित्य और साहित्य विषयक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में इन परिभाषाओं को समझा जा सकता है।

1. प्लेटो–साहित्य अज्ञान जन्य होता है। साहित्य जीवन से दूर होता है, क्योंकि भौतिक पदार्थ स्वयं ही सत्य की अनुकृति है, फिर साहित्य तो भौतिक पदार्थों की अनुकृति होता है, अत: वह अनुकरण का अनुकरण होता है। साहित्य शूद्र मानवीय वासनाओं से उत्पन्न होता है और शूद्र वासनाओं को उभारता है। अत: वह हानिकारक होता है।

प्लेटो की साहित्य के स्वरूप के संबंध में यह धारणा अपने युगीन परिस्थिति और साहित्य को सामने रखकर तैयार हुई थी।

2. अरस्तु–Poetry is an imitation of nature through medium of language-

अर्थात साहित्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने साहित्य को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देख कर सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से उसका विवेचन किया है।

अरस्तु की इस परिभाषा में अनुकरण से तात्पर्य मात्र नकल करना नहीं, बल्कि पुन: सृजन है। इस दृष्टि से अरस्तु के अनुसार 'साहित्य जीवन और जगत का कलात्मक और भावनात्मक पुन:सृजन है।'

3. विलियम वर्ड्सवर्थ–Poetry is a spontaneous overflow of powerful feeling it takes its origin from emotion.

स्वच्छंदतावादी कवि विलियम्स वर्ड्सवर्थ के अनुसार प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छृंखलन कविता है। अर्थात भावना का सहज उद्रेक ही कविता है। वर्ड्सवर्थ कविता में सहजता को महत्त्व देते हैं। इसमें भावनाएं जब लबालब भर जाती है, तो उसी आधार पर वह सहज प्रकट होती है।

4. सैम्युअल टेलर कॉलरिज–Poetry is the best word in best order. सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम विधान ही कविता है।

5. पी.वी शैली–Poetry is the record of the best and happiest movement of the happiest and best minds. सुखी और मन को आनंद देने वाले क्षणों में सुखद मन के आधार पर प्रकट हुई रचना कविता है।

6. मैथ्यू अर्नाल्ड–Poetry is a criticism of life. कविता अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि यह सभी परिभाषाएं विशिष्ट साहित्य, विशिष्ट मत तथा मतवाद से प्रेरित है।

साहित्य की परिभाषा - साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए संस्कृति, हिन्दी और पश्चात के विद्वानों ने साहित्य की जो परिभाषाऐ पस्तुत की है, उसे देखना होगा। कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं को ही हम यहाँ पस्तुत करेंगे। पस्तुत परिभाषाऐ डॉ. भगीरथ मिश्रा के काव्य शास्त्र ग्राथ से यहाँ ली गयी है-
(अ) संस्कृति विद्वानों द्वारा साहित्य की परिभाषा-(1) अग्नि कुराण-

संक्षेपाद्वाव्यमिष्टार्थव्यवच्छिना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोपवर्जितम् ॥

अर्थात् - संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है, जिसमे अलंकार प्रकट हो, और जो दोषरहित और गुणयुक्त हों।

भामह की परिभाषा - शब्दार्थो सहितौ काव्यम् ,

अर्थात् - शब्द अर्थ का संयोग काव्य है। यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, क्योकि इसमें क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र , इतिहास , वार्तालाप आदि सभी आ जाते है। इस कारण इसमें अतिव्याप्ति का दोष है।

आचार्य विश्वनाथ - वाक्यं रसात्मक काव्यम् ,

अर्थात् - रसयुक्त वाक्य काव्य है।

पंडितराज जगन्नाथ - रमणीयार्थ पतिपादकः शब्द काव्यम् ,

अर्थात् - रमणी अर्थ का प्रदिपादन करने वाला शब्द काव्य है।

आचार्य दण्डी - काव्य शोभाकरन धर्मान अलंकारण पछश्यते ,

अर्थात् - काव्य को शोभा प्रधान करने वाले धर्म अलंकार हुए।

वामन - रीतिरात्माकाव्यस्य ,

अर्थात् - काव्य की आत्मा रीति है।

आनन्दवर्धन - काव्यस्यात्माध्वनिः ,

अर्थात् - ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

कुन्तक - वक्रोक्तिकाव्यजीवित्म ,

अर्थात्- काव्य का जीवन वक्रोक्ति है। कुल मिलकर कहाँ जा सकता है कि शब्द और अर्थ अथवा दोनो की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं।

हिन्दी विद्वानों द्वारा साहित्य की परिभाषा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ला - ' कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है।

आचार्य महावीर प्रसाद त्रिवेदी - अन्तकरण की दिप्तियों के चित्र का नाम कविता है।

जयशंकर प्रसाद – काव्य आत्मा की संकलात्मक अनुभूति है।

सुमित्रानन्दनपंत – कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।

अंग्रेजी विद्वानों द्वारा साहित्य की परिभाषा – कॉलरिज ने लिखा है – poetry is the best words in their best order

अर्थात् – सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होता है।

वर्डसवर्थ ने लिखा है – poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity.

अर्थात् – कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।

मैथ्थू आरनॉल्ड ने लिखा है – poetry is, at bottom a criticism of life.

अर्थात् – कविता अपने मूल रूप मे जीवन की आलोचना है।

चौम्बर्स कोश लिखते हैं–poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts which are the creations of imagination and feelings.

अर्थात् – कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने को कला, कविता है।

इस प्रकार संस्कृत, हिन्दी अंग्रेजी विद्वानों द्वारा अलग – अलग प्रस्तुत की गई है , जिनसे साहित्य को समझना कठिन है। वस्तुतः ये परिभाषाएं अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से मुक्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने साहित्य क्या है , इसका उत्तर देने के स्थान पर काव्य और कवि काव्य या पाठक तथा काव्य और जीवन के संबंध को सूचित किया है, जिससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता है, ये परिभाषा साहित्य स्थल के विभिन्न दृष्टिकोण को एवं पक्षों को सूचित किया जाता है, अतः इनमें से किसी भी साहित्य को एक सर्वागीण परिभाषा के रूप में स्वीकार करना कठिन है। इस कारण साहित्य के स्वरूप स्पष्टीकरण केवल परिभाषा का निर्धारण पर्याप्त नहीं है , इसके तत्वों को समझना भी जरूरी है।

साहित्य के तत्व

साहित्य को सम्यक रूप से समझने के लिए उसके लक्षणों के साथ–साथ उसके प्रमुख तत्वों की जानकारी भी अपेक्षित है। साहित्य के मुख्यतः चार तत्त्व

निर्धारित किये गये हैं--(1) भाव, (2) कल्पना, (3) बुद्धि और (4) शैली । साहित्य का सर्वप्रमुख तत्त्व 'भाव' ही है–यही उसकी आत्मा है। साहित्य का सर्वप्रमुख लक्षण रागात्मकता है, जिसके लिए भावों का चित्रण अपेक्षित है। स्थूल घटनाओं और विस्तृत इतिवृत्त के निरूपण की अपेक्षा साहित्य में सूक्ष्य भावनाओं का अधिक महत्त्व है। दूसरे, साहित्य का लक्ष्य पाठक की ज्ञान-वृद्धि करना नहीं, अपितु उसके हृदय को भावनाओं से आप्लावित कर देना होता है, इस लक्ष्य की पूर्ति भावों के चित्रण के द्वारा सम्पन्न होती है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य की इस आत्मा-भाव तत्व को आज से दो सहस्र वर्षों पूर्व ही पहचान लिया था। आदि आचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से साहित्य का लक्ष्य भावानुभूति को घोषित करते हुए भावनाओं का वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। उन्होंने भावों के दो वर्ग किये हैं-संचारी और स्थायी। आगे चलकर भोजराज, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भरत के भाव सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढ़ाया। कहना न होगा कि भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया भावों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त संगत एवं शुद्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी भाव की दो कोटियाँ हैं--(1) इमोशन (Emotion) और (2) सेंटीमेंट (Sentiment)। इमोशन और सेंटीमेंट क्रमशः संचारीभाव और स्थायीभाव से गहरा साम्य रखते हैं। भाव के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने तीन अंगों का विवेचन किया है-

आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव । आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी इन्हें स्वीकार किया है।

साहित्य का दूसरा तत्व कल्पना है। साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पनाशक्ति के प्रयोग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक साधारण-से-साधारण घटना को भी कवि कल्पना, के रंग में रंगकर ऐसा भव्य रूप प्रदान कर देता है कि वह हमारे हृदय को बलात् आकर्षित कर लेता है। उदाहरण के लिए हम एक समाचार-पत्र में पढ़ते हैं कि जर्मनी का एक जहाज डूब गया, जिसमें चार सौ व्यक्ति सवार थे। इस समाचार को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में थोड़ी हलचल भले ही हो जाय, किन्तु उसका इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम शोक से अभिभूत होकर आँसू बहाने लग जायँ। किन्तु जब कवि इसी घटना को कल्पना के द्वारा चित्रित करके हमारे सामने प्रस्तुत करेगा तो चार सौ व्यक्ति तो क्या एक व्यक्ति के भी डूबने की घटना हमारे हृदय में करुणा की शत-शत धाराएँ उद्वेलित कर सकती है। वह हमें बतायेगा कि उस डूबने वाले जहाज में

कौन-कौन व्यक्ति बैठे हुए थे, उनके हृदय में अपने प्रियजनों के मिलन की। उत्कंठा किस प्रकार उद्वेलित हो रही थी, वे स्वदेश-गमन के किन-किन स्वप्नों को सँजोए हुए जा रहे थे, उनके घर पर उनकी असहाय वृद्धा माँ या चिरवियोगिनी पत्नी या दर्शनों की लालसा से विभोर छोटे-छोटे भोले बालक किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जब जहाज डूबने लगा तो उस पर बैठे हुए प्राणियों की क्या दशा हो गई थी—किस प्रकार क्षण-क्षण में पुरुष यात्रियों की चिन्ता महिलाओं की चीख-पुकार और बच्चों का करुण-रोदन बढ़ता जा रहा था। जीवन के अन्तिम क्षणों को सिंह की तरह आगे बढ़ता देखकर उन गौतुल्य यात्रियों का हृदय किस प्रकार शोक-विहवल होकर हाहाकार कर उठा था और फिर उनके डूब जाने के समाचार को सुनकर चिर-प्रतीक्षा में लीन उनके प्रियजनों की क्या दशा हो गई थी—इन सबका चित्रण करता हुआ एक सच्चा कवि इस छोटी-सी घटना का ऐसा वर्णन कर सकता है कि हमारा हृदय पिघलकर आँसुओं की धारा में बहने लगे। वस्तुतः कवि अपनी कल्पना के बल पर दूसरों के दुःख-सुख और दूसरों की अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर देता है। कि वह हमारा दुःख-सुख बन जाय । परोक्ष की घटना को वह प्रत्यक्ष रूप में, अतीत की घटना को वर्तमान में और सूक्ष्म भाव को स्थूल रूप में प्रस्तुत कर देता है। इसका श्रेय उसकी कल्पना-शक्ति को ही है।

काव्य में सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि भी कल्पना के द्वारा ही की जाती है। न जाने हमारे कितने कवियों ने नारी की सूक्ष्म छवि के अंकन में अपनी अद्‌भुत कल्पना का परिचय दिया है। सुन्दरियों के सामान्य रूप-वैभव को उन्होंने चन्द्र की ज्योत्स्ना, दामिनी की चमक, रजनी की शीतलता, ओस की तरलता, पुष्प की प्रफुल्लता आदि से समन्वित। करके अलौकिकता प्रदान कर दी है। यही नहीं, संसार के असंख्य निर्जीव पदार्थों और प्रकृति के अगणित चेतनाविहीन रूपों को भी कवि की कल्पना ने सजीवता और चेतना प्रदान कर दी है। धरती की गोद में कल-कल प्रवाहिनी सरिता को कालिदास की कल्पना ने एक ऐसी मद-विहवला रमणी का रूप प्रदान कर दिया, जिसके अगाध जलरूपी नितम्बों से लहरों के रूप में उद्वेलित वस्त्र बार-बार खिसका जा रहा था! नदी की चंचल तरंगों को उसने कामिनी के उन चंचल कटाक्षों का रूप प्रदान कर दिया जो वह अपने किसी प्रिय की ओर निक्षेप कर रही हो! अमरुकशतक के रचयिता ने युवती-बालाओं के द्वारा किए गए अपमान की मीठी पैंट में ही स्वर्ग के अमृत की कल्पना करके अपने हृदयागार को तृप्त कर लिया। भर्तृहरि की कल्पना नारी

के उरोज-द्वय में एक ऐसी दुर्गम घाटी की रचना कर लेती है, जहाँ सेमररूपी तस्कर विराजमान है और जो मनरूपी पथिकों का सर्वस्व लूट लेता है ! मैथिलकवि विद्यापति चंदन-चर्चित पयोधरों में अपने इष्टदेव शिव की कल्पना करके ही कृतकृत्य हो जाते हैं! प्रेम-पन्थ के परिचायक पद्मावतकार की कल्पना-रानी तो निर्जीव तोपों को भी मद-विहवल गजगामिनियों का रूप प्रदान करके उन्हें युवकों का प्राण ले लेनेवाली शक्ति से युक्त कर देती है ! और आगे चलकर केशव, बिहारी, पद्माकर, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत और महादेवी की कल्पना जो चमत्कार दिखाती है। उसका तो कहना ही क्या ! वस्तुतः प्रत्येक युग और प्रत्येक भाषा का साहित्य कल्पना-शक्ति की अपूर्वक्षमता, अद्भुत वैभव और अलौकिक चमत्कार की कहानियों से भरा पड़ा है। वेदान्तवादियों के यहाँ जो स्थान 'माया' का है वही साहित्य में 'कल्पना' का है, अन्तर केवल इतना ही है कि उसकी माया सत् को असत, में सूक्ष्म को स्थूल में और अलौकिक को लौकिक में परिवर्तित कर देती है जब कि साहित्यकार की कल्पना असत् को सत् में स्थूल को सूक्ष्म में तथा लौकिक को अलौकिक में परिवर्तित कर देने की विशेष शक्ति से भी विभूषित है! साहित्य-जगत् का सम्राट् 'भाव' और 'कल्पना' उसकी दासी है। किन्तु कभी-कभी जब कल्पना भाव से भी आगे बढ़कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन स्वतंत्र रूप में करने लगती है तो साहित्य का वैभव नष्ट हो जाता है। भाव-शुन्य कल्पना साहित्य को कोरा चमत्कार बना देती है। बिहारी जैसे कवि जब इस तथ्य को भूलकर कल्पना का अत्यधिक आश्रय ग्रहण करने लगते हैं तो वहाँ काव्यात्मकता नष्ट हो जाती है। अतः साहित्य में कल्पना का उपयोग भावनाओं के चित्रण और विकास के लिए ही होना चाहिए, अन्यथा वह महत्त्वहीन हो जाती है। साहित्य का तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि का सम्बन्ध तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों से है। साहित्य में किसी-न-किसी मात्रा में तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इनके अभाव में कोरी भावनाओं का स्पन्दन दुःखी का चीत्कार बन जायेगी तथा बुद्धिशून्य कोरी कल्पना में और पागल के प्रलाप में कोई अंतर शेष नहीं रह जायेगा। अन्ततः साहित्य में वस्तुओं और घटनाओं का चित्रण उनके उचित रूप में ही किया जाता है। कथा-वस्तु की सूक्ष्म रेखाओं के निर्माण के लिए, घटनाओं कीशृंखला को मिलाने के लिए और कार्य के अनुरूप फल दिखाने के लिए प्रत्येक प्रबन्धकार, कहानीकार और उपन्यासकार को बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भावनाओं की सुदृढ़ ईंटों को वह विचारों के गारे से जोड़ कर काव्य

भवन का निर्माण करता है। अत: न्यूनाधिक मात्रा में साहित्य में बुद्धितत्व भी सर्वत्र विद्यमान रहता है।

कुछ साहित्यकार तो निजी विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से ही साहित्यरचना में प्रवृत्त होते हैं, अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य में विचारों को कहाँ तक स्थान देना चाहिए। हमारे विचार से विचारों या सिद्धान्तों आदि का अभिधा शैली में वर्णन न होकर उनकी सूक्ष्म रूप में व्यंजना होनी चाहिए। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्दजी कहीं भी यह नहीं लिखते कि दहेज-प्रथा या वृद्ध-विवाह बुरा है, किन्तु उस उपन्यास के पढ़ने से ये विचार स्वत: ही पाठक के हृदय में उत्पन्न हो जाते हैं। विचारों का चित्रण उसी सीमा तक होना चाहिए, जहाँ तक वे रचना के भाव-सौन्दर्य में बाधक न हों । साहित्य की आत्मा या उसका प्राण भाव है, अत: उसे किसी भी स्थिति में ठेस नहीं लगनी चाहिए। भाव-शून्य विचारों का वर्णन साहित्य की संज्ञा से वंचित करके उसे दर्शन, नीति-शास्त्र या उपदेश-ग्रन्थ का रूप दे देता है।

साहित्य के चौथे तत्त्व शैली' कवि या साहित्यकार जिस भाषा, जिस रूप और जिस ढंग से अपने भावों, विचारों या इतिवृत्ति को व्यक्त करता है, वही शैली है। शैली के अन्तर्गत भाषा, शब्द-चयन, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का उपयोग, काव्यरूप आदि का समावेश किया जाता है। काव्य के प्रारम्भिक तीन तत्त्व यदि उसके प्राण हैं।

तो शैली उसका शरीर है। जैसे बिना शरीर के प्राण नहीं टिक सकते, वैसे ही बिना भाषा आदि के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि साहित्य का भाव-पक्ष उत्कृष्ट हो तो साधारण या दोष-पूर्ण शैली से भी काम चल सकता है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट साहित्य वह है, जिसका भाव-पक्ष और शैली-पक्ष (या कला-पक्ष) दोनों प्रौढ़ हों। किन्तु जब कविगण कवि केशव की भाँति शैली को ही सजाने में इतने अधिक लीन हो जाते हैं कि वे भाव-पक्ष को सर्वथा भुला बैठते हैं तो काव्यत्व का हनन हो जाता है। हमारे कुछ आचार्यों-जैसे वामन, कुन्तक, भामह आदि ने भी शैलीगत गुणों को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया था। फिर भी उनके द्वारा शैली सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हुई, जिसका महत्त्व कम नहीं । पाश्चात्य विद्वानों ने शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से माना है। इस प्रकार साहित्य के प्रमुख लक्षणों एवं उसके तत्वों की व्याख्या के अनन्तर हम कह सकते हैं, जिस प्रकार ईश्वर के अनेक रूप एवं अनेक नाम

हैं, उसी प्रकार साहित्य भी नाना रूपों और नाना संज्ञाओं से विभूषित है। उपर्युक्त लक्षणों और तत्वों का ज्ञान भी साहित्य के स्वरूप को आंशिक रूप में ही समझने में सहायता देता है, उसकी आत्मा का तो पूर्ण साक्षात्कार तभी सम्भव है जबकि हमारे हृदय में भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाश हो, हमारे मस्तिष्क में गंभीर अध्ययन की ज्योति हो और हमारे व्यक्तित्व में साधन का बल हो।

साहित्य के भेद -(1) पद साहित्य (2) गद्द साहित्य । पद साहित्य -महाकाव्य, खंडकाव्य , गीत , कविता , पद ।

गद्द साहित्य -उपन्यास , कहानी , नाटक , निबंध, अलोचना , जीविनि , संस्मरण , सचेतकर , रिपोतार्ज आदि।

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य का उद्देश्य विवेचित करना आसान कार्य नहीं है पर यह प्रश्न उठना बहुत स्वाभाविक है। रचनाकार किस लिए रचना कर रहा है? वह रचना कर, उसको सबके साथ बाँटना क्यों चाहता है? आखिर ऐसा करने में उसका उद्देश्य क्या है, यानि अन्ततः साहित्य का उद्देश्य क्या है?

यह विषय कुछ लम्बा है, जीवन की तरह लम्बा कहें या साहित्य के इतिहास की तरह कहें, पर इसे दो-चार सूक्तियों, उद्धरणों में बाँधा नहीं जा सकता - यह तय है। समय के साथ-साथ साहित्य ने रूप बदले, कभी हमें वीरों की गाथाएँ सुनाई तो कभी भगवान की महिमा गाई। कभी कामिनियों की देह-यष्टि में यह उलझा है, फिर कभी दुःखी जन की पीड़ा गाई तो कभी प्रकृति का राग छेड़ा। कहने का मतलब कि साहित्य-यात्रा में कवियों ने काल और स्थितियों के अनुसार साहित्य का उद्देश्य बार-बार बदला। साहित्य के उद्देश्य से इसमें विस्तार आया जिसने साहित्य को हर युग में नवीन बनाए रखा पर जैसे अनेक सम्बन्धों में बँट कर भी मुनष्य वही एक मनुष्य रहता है, जिसके साँस लेने में, जीवित रहने का कोई एक अर्थ रहता है और उसी अर्थ की खोज में वह जीवन भर लगा रहता है! ठीक उसी तरह से साहित्य के उद्देश्य की चर्चा मुझे दुस्तरीय लगती है और कुछ दुस्तर भी लगती है।

संस्कृत साहित्य के समय में साहित्य के भीतर, पहले स्तर को पकड़ने की चेष्टा, साहित्य-शास्त्रियों ने की थी। कहीं साहित्य के उद्देश्य का उन्होंने कभी 'भावों' की प्रस्तुति बताया तो कभी 'कला' की। बाद में कभी साहित्य का उद्देश्य 'आदर्शों' की स्थापना रहा तो कभी 'यथार्थ' की। चिंतन-संघर्ष के

उत्तर प्रतिउत्तरों के बीच मुझे आचार्य मम्मट की यह उक्ति, साहित्य उद्देश्य के भीतरी क्षेत्र के अधिकांश भाग को समेटती हुई लगती है –

'काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये
सद्यः परवितृतयः कान्तासम्मित तयोपदेशयुजे' (काव्य-प्रकाश)

आचार्य मम्मट कहते हैं कि काव्य का उद्देश्य यश की प्राप्ति, अर्थ की प्राप्ति और शिव यानि मंगल की स्थापना है। वह सकल प्रयोजनों को पत्नी की भांत मधुर शब्दों के उपदेश से कहता है। आचार्य मम्मट वेद्यन्तर को विगलित कर परमानंद की अनुभूति देना भी साहित्य का उद्देश्य मानते हैं।

इस परिभाषा की प्रथम पंक्ति कालातीत है। सबका मंगल चाहना, दु:ख पाकर दु:ख की आँच को समझना और उस आँच में तपते हृदयों के साथ 'सम-वेदना', समत्व स्थापित कर, उनका कंधा थपथपा, सहयात्री, सहभोगी, सहयोगी के रूप में आना – साहित्य का सदा से उद्देश्य रहा है चाहे वह 'मेघदूत' के यक्ष के विरह का दु:ख हो या मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' या 'अंधेरे में' के पात्रों की पीड़ा – सब युगों में साहित्य ने दु:ख में, जीवन में संघर्षों में साँझा करने की चेष्टा की है। 'अज्ञेय' की कविता की यह पंक्तियाँ यहाँ मुझे याद आ रही हैं --

'दु:ख सबको माँजता है
स्वयं चाहें
मुक्ति देना वह न जाने
पर जिन्हें वह माँजता है
उन्हें यह सीख देता है।..
कि सबको मुक्त रखें।..'

दु:ख झेलकर, संघर्ष से निकल कर 'मुक्त' हो जाना और अपनी मुक्ति में सबको सहभागी बनाने की चेष्टा ही संभवत: साहित्य की शाश्वता का रहस्य है – हरेक से जुड़ने और हर जीवन के भीतर से 'तिर' आने की अदम्य इच्छा ही साहित्य का उद्देश्य है।

साथ ही यश और अर्थ की इच्छा भी साहित्य के लौकिक उद्देश्य हैं, जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

इक्कीसवीं सदी के चौथे वर्ष में संसार को यह तो विश्वास हो चला है कि अब कोई सभ्यता जब अपने मूल्यों को परिभाषित करने बैठेगी तो उसे आयातित या विदेश प्रभावों से आए परिवर्तनों के कारण, इस परिभाषा को लिखने

में अनेक प्रश्नों से उलझना पड़ेगा। यही उलझन इस लेख में मुझे आ रही है। समय के साथ साहित्य के रूप में इतने परिवर्तन आए हैं कि हर युग में अपना उद्देश्य-रूप बदलते साहित्य को सारांश में विवेचित-विश्लेषित कर पाना कठिन है। 'ग्लोबलाइजेशन' से जहाँ मुनष्य-मनुष्य के निकट आया है, वहीं अपने क्षेत्रों से निकल कर दूर-दराज के देशों में भी पहुँच गया है। उसके पहुँचने के साथ-साथ पहुँची है, उसकी भाषा और उसका साहित्य और उसकी रचना शक्ति। आज 'वेबपत्रिकाओं' से हम इस रचनाशक्ति को विश्व के किसी भी कोने से बैठ कर पढ़ सकते हैं। पिछले दशक से बाहर पहुँचे लोगों की रचनाओं के प्रकाशित रूप भी बहुत अधिक दिखाई देने लगे हैं। अब साहित्य के उद्देश्य या स्वरूप या इतिहास की चर्चा केवल भारत के रचनाकारों की रचनाओं के आधार पर नहीं की जा सकती, अपितु ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, नार्वे, ट्रिनिडाड और उत्तरी अमेरिका आदि में रहने वाले लेखकों की रचनाओं को भी हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में सम्मिलित करना होगा, उन्हें 'प्रवासी लेखक' कह कर हाशिये पर बहुत देर तक नहीं रखा जा सकता।

इससे साहित्य के आलोचकों और साहित्यशास्त्रियों की समस्याएँ बढ़ेंगी, क्योंकि युग और काल के साथ-साथ स्थान के प्रभाव को समेटे वर्तमान रचनाएँ किसी एक साहित्य सिद्धान्त से बँधी नहीं रह पायेंगी। किसी एक विचार और सूत्र से इन रचनाओं को आंकने की चेष्टा करने की हठधर्मिता में रचनाकार के हृदय का मर्म, कर्मस्थली का प्रभाव और बदलती सामाजिक संरचना की उपेक्षा हो जाने का भय है। बात केवल परिवेश की होती तो उस परिवेश का विवेचन विश्लेषण करके आगे बढ़ा जा सकता था, पर देश से बाहर बैठे रचनाकारों के हृदय-मस्तिष्क में स्मृतियों और संस्कारों का जो एक बड़ा संसार है, उसका अन्वेषण करना सरल नहीं है। यह स्मृतियों और संस्कारों का संसार केवल 'देश की याद' दिलाने वाली 'नास्टेलिजिक' रचनाओं में ही नहीं उभरता है, अपितु वर्तमान भारत की संक्षिप्त यात्राओं में यथार्थ से साक्षात्कार कराता, घर के भीतर चलते पूर्व-पश्चिम मूल्यों में भी उभरता है। इसके साथ ही समस्या है अभिव्यंजना-शैली की। कोई लेखक चालीस वर्ष पूर्व आया पर उसकी स्मृति में सन् साठ का मोहभंग नहीं, सन् तीस पैंतीस का छायावाद स्मृति में बसा है, कोई 'नवगीत' का प्रभाव लिए है तो कोई 'हालावाद' की छाया में लिख रहा है। ऐसा नहीं कि भाषा-अभिव्यंजना में नवीन रूप देखने को नहीं मिलता हो, प ऐसा कम है। ऐसा लग सता है कि दो विरोधी बातें हैं - एक ओर प्रवासी

हिन्दी लेखकों को मूलधारा से जोड़ने की बात कहना और दूसरी ओर उनके साहित्य पर पुराने हो चुके 'वादों' का प्रभाव बताना। वस्तुत: ये विरोधी बातें नहीं अपितु ऐसा संश्लिष्ट सत्य है, जिसके कारण एक नए प्रकार की चिंता, बहस साहित्यशास्त्रियों में प्रारंभ हो चुकी है और निकट भविष्य में भी इस एकीकरण की प्रक्रिया का सटीक समाधान निकलता नहीं दिखाई देता।

देवेन्द्र इस्सर अपने लेख 'नई शती में विचारों का भविष्य और भविष्य' में इस समस्या के संबंध में लिखते हैं-- 'वास्तव में समस्या यह है कि उत्तर उपनिवेशवादी विमर्श प्रवासी व्यक्तियों की विभाजित संस्कृति से उत्पन्न हुआ है। एडवर्ड सईद (फिलीस्तीन) हो या सारा सुलेरी (पाकिस्तान) या गायत्री स्पिवाकु और होमी भाभा (भारत), ये सब सांस्कृतिक 'स्कीजोफ्रीनिया और भ्रम की परवरिश कर रहे हैं। अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटकर स्वदेश को त्यागकर दूसरी संस्कृतियों में प्रवेश करने के कारण उनके संवाद के पात्र और उस संवाद के स्रोत उसी संस्कृति के लोग हैं।'

देवेंद्र इस्सर की बात में मुझे आंशिक सच्चाई ही दिखाई देती है। प्रवासी भारतीय लेखकों पर 'स्कीजोफ्रीनिया और भ्रम की परवरिश करने' का आरोप से मैं सहमत नहीं हूँ। जिसे इस्सर जी 'भ्रम' कहकर किनारे पर धकेल रहे हैं, वह साहित्य प्रवासी जीवन के संघर्ष का साहित्य है। यह संघर्ष भारत में रहने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन से भिन्न प्रतीत हो सकता है, पर अन्तत: बननियादी चिन्ताओं में, प्रवासी मध्यवर्गीय भारतीय और भारत के मध्यवर्गीथ व्यक्ति की चिन्ताओं में कोई अधिक अन्तर नहीं है, बल्कि जो सामाजिक-सांस्कृतिक सहयोग वहाँ के मध्यवर्गीय व्यक्ति को परिवार और परिवेश से प्राप्त है, उसका विदेश में अभाव होने से प्रवासी भारतीय का संघर्ष - भौतिक और मानसिक स्तर पर दोहरा हो जाता है।

देवेंद्र इस्सर जी का दूसरा आरोप प्रवासी लेखकों पर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटने का है, वह भी कम से कम हिन्दी लेखकों पर लागू नहीं होता, जिनकी रचनाओं में घर-आंगन की याद, घर और देश के स्वर, भारत में रहने वाले लेखकों की रचनाओं से कुछ अधिक ही गूँजते हैं। प्रवासी लेखकों में अत्याधिक प्रसद्धि महाकाव्यों की (शकुन्तला, अनुराग) रचना करने वाले प्रो. हरिशंकर आदेश की कविता इस्सर जी के इस आरोप का उत्तर देते हुए कहती है-

'समय परिस्थितियाँ या भाग्य मुझे बाहर ले आया।
सच कहता हूँ माँ! पर तुमको पल भी भुला न पाया।

रोटी-रोजी -सुख-समृद्धि-वैभव से प्रेरित होकार
जितना आया दूर, निकट उतना ही तुझको पाया।।

(कविता: 'प्रवासी की पाती - भारत माता के नाम' संग्रह -प्रवासी की पाती)

अमेरिका के प्रसिद्ध कवि श्री सुरेंद्रनाथ तिवारी अपनी कविता - 'आओ, लौट चलें अब घर को' में लिखते हैं -

'उस आँगन की तुलसी ने ही हमको संस्कार सिखाए,
अर्घ्य सिखाया, मंत्र सिखाए, और सिखाई वेद, चाएँ
जहाँ कुटुम थी सारी वसुधा, सब चाचा, मामा, मौसी थे
एक प्यार की भाषा जिसने, ह्रस्व, दीर्घ, अनुस्वार सिखाए
फिर से एक बार सीखें हम
जीवन के ढाई आखर को
आओ, लौट चलें अब घर को'

(संग्रह- उठो पार्थ गाँडीव संभालो)

तो प्रवासी हिन्दी कवि की कविता 'संस्कृति का त्याग' नहीं करती है, बल्कि उसे सहस्र बाहुओं से अपने से लिपटाए हैं, जिसकी गंध उसके साहित्य में अनेक रूपों में दिखाई देती है।

बात दरअसल उस समझ को पैदा करने की है, जिसकी दृष्टि से भारत और भारत के बाहर लिखे जाने वाले साहित्य के स्वरूप को देखा जा सके और उसका निष्पक्ष विवेचन किया जा सके। भारत में लिखा जाने वाला आज का साहित्य और आज से चालीस वर्ष पहले से लिखा जाने वाला उपलब्ध साहित्य भी अक्सर विदेशी विचारकों (मार्क्स, फ्रॉयड, मिशल फूको, वर्जीनिया वुल्फ, एजरा पाउण्ड और अन्य) से प्रभावित रहा है। ये प्रभावों के आदान-प्रदान, जनसंचार की सुविधाओं से युक्त नए समाज में अवश्यंभावी है। बल्कि मैं समझती हूँ कि यह आदान-प्रदान, हमारी मानसिकता, तार्किक विश्लेषण शक्ति और सत्य को पहचानने की शक्ति को खरा ही करते हैं, कम नहीं, पर जहाँ ये विचार साधन न बन कर लेखक के साध्य हो गए हैं, वहीं प्रतिबद्धता बन कर पाठकों को भ्रमित करने लगते हैं।

पाठकों को भ्रमित करना साहित्य का उद्देश्य नहीं है, किसी भी युग में नहीं रहा और जो लेखन पाठकों की चिन्तन शक्ति को विस्तार और गहनता देने के स्थान पर केवल एक सोच का ही रंगीन चश्मा देने का कार्य करता है -

वह किसी वाद, विचार, पार्टी या मत का घोषणापत्र तो हो सकता है - साहित्य नहीं!

राजीव रंजन प्रसाद :-

साहित्य शब्द को परिभाषित करना कठिन है। जैसे पानी की आकृति नहीं, जिस साँचे में डालो वह ढ़ल जाता है, उसी तरह का तरल है यह शब्द। कविता, कहानी, नाटक, निबंध, रिपोर्ताज, जीवनी, रेखाचित्र, यात्रा-वृतांत, समालोचना बहुत से साँचे हैं। परिभाषा इस लिये भी कठिन हो जाती है कि धर्म, राजनीति, समाज, समसामयिक आलेखों, भूगोल, विज्ञान जैसे विषयों पर जो लेखन है, उसकी क्या श्रेणी हो? क्या साहित्य की परिधि इतनी व्यापक है?

संस्कृत में एक शब्द है वांड्मय। भाषा के माध्यम से जो कुछ भी कहा गया, वह वांड्मय है। साहित्य के संदर्भ में संस्कृत की इस परिभाषा में मर्म है -शब्दार्थो सहितौ काव्यम। यहाँ शब्द और अर्थ के साथ भाव की आवश्यकता मानी गयी है। इसी परिभाषा को व्यापक करते हुए संस्कृत के ही एक आचार्य विश्वनाथ महापात्र नें "साहित्य दर्पण" नामक ग्रंथ लिख कर "साहित्य" शब्द को व्यवहार में प्रचलित किया। संस्कृत के ही एक आचार्य कुंतक व्याख्या करते हैं कि जब शब्द और अर्थ के बीच सुन्दरता के लिये स्पर्धा या होड़ लगी हो, तो साहित्य की सृष्टि होती है। केवल संस्कृतनिष्ठ या क्लिष्ट लिखना ही साहित्य नहीं है न ही अनर्थक तुकबंदी साहित्य कही जा सकेगी। वह भावविहीन रचना जो छंद और मीटर के अनुमापों में शतप्रतिशत सही भी बैठती हो, वैसी ही कांतिहीन हैं जैसे परान्ह में जुगनू। अर्थात, भाव किसी सृजन को वह गहरायी प्रदान करते हैं, जो किसी रचना को साहित्य की परिधि में लाता है। कितनी सादगी से निदा फाजली कह जाते हैं

"मैं रोया परदेस में, भीगा माँ का प्यार,
दु:ख नें दु:ख से बात की, बिन चिट्ठी बिन तार।"

यहाँ शब्द और अर्थ के बीच सादगी की स्पर्था है, किंतु भाव इतने गहरे कि रोम रोम से इस सृजन को महसूस किया जा सकता है। यही साहित्य है। साहित्य शब्द की चीर-फाड़ करने पर एक और छुपा हुआ आयाम दीख पड़ता है वह है इसका सामाजिक आयाम। बहुत जोर दे कर एक परिभाषा की जाती है कि "साहित्य समाज का दर्पण है"। रचनाकार अपने सामाजिक सरोकारों से विमुक्त नहीं हो सकता, यही कारण है कि साहित्य अपने समय का इतिहास बनता चला जाता है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की निम्नलिखित अमर पंक्तियाँ, साहित्य के इस आयाम का अनुपम उदाहरण हैं–

आरती लिये तू किसे ढूंढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।
फावड़े और हल राजदण्ड बनने को हैं,
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है,
दो राह,समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है

संक्षेप में "साहित्य" – शब्द, अर्थ और भावनाओं की वह त्रिवेणी है, जो जनहित की धारा के साथ उच्चादर्शों की दिशा में प्रवाहित है। ,

डॉ. शैलजा सक्सेना –

'भाव की लहरी हृदय में उठ रही, उठती रही है
स्वभाव वश मैं लिख रही हूँ
क्योंकि लिखने को विवश हूँ,
बात अपनी औ तुम्हारी
साँझी पीड़ा जो हमारी।
वह स्वरों को खोलकर, जाँचना सब चाहते हैं,
भाव उठ, बह चले जो, बाँचना सब चाहते हैं,
कर्म है, उनका यही तो इस कर्म का अधिकार दे दो
संग ही मेरे हृदय के मर्म का आधार दे दो।।

आलोचकों से कवियों की फरियाद और प्रतिवाद का आधार यही रहा है। सदियों से चली आई है कविता और साहित्य की धारा और धारा में फेन सरीखी आलोचना भी। आलोचना यह कि साहित्य क्या? साहित्य के माने क्या? और इसको जाने कौन यानि साहित्य किसके लिए हो और साहित्य कैसा हो?

(कोई कहता है कि 'साहित्य समाज का दर्पण होना चाहिए' तो किसी ने इस दर्पण में अपनी ही तस्वीर देखनी चाही। तर्क था कि समाज में व्यक्ति है और व्यक्ति की है अपनी व्यथा और अपनी व्यथा- कथा सुनाने के लिए कविता, कहानी सुनाने में क्या बुराई है? बल्कि 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और

'भोगा हुआ यथार्थ' को साहित्य का आधार माना गया तो समाज के साथ साथ 'साहित्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी बना'। शास्त्रकारों ने साहित्य में 'सरेहित' की संधि करके, उस अभिव्यक्ति को साहित्य कहा जो 'सबका हित करे'। सबका हित यानि समाज के प्रत्येक प्राणी का हित करने वाला साहित्य ही वास्तविक साहित्य है, (ऐसा असंभव कार्य तो ब्रह्म तक नहीं कर पाए) आलोचकों ने इस परिभाषा की असाहित्यकता को पकड़ा और 'सब' की परिभाषा को जरा दुरुस्त किया क्योंकि चोर और सिपाही, भ्रष्टाचारी और आदर्शवादी, नौकर और स्वामी, पूँजीवादी और मजदूर, सबका हित एक ही प्रकार के साहित्य से तो किया नहीं जा सकता अतः 'सब' की परिभाषा से कुछ लोगों को निकाला जाना आवश्यक और उचित माना गया। लेकिन बचे हुए लोगों को लेकर साहित्य रचने वालों में ठीक उसी प्रकार मतभेद हो गया जैसे नरमदल और गरमदल का सैद्धान्तिक मतभेद था। किसी ने दलित वर्ग को थाम 'दलित साहित्य' लिखने को ही साहित्य का प्रथम कर्त्तव्य बताया तो किसी ने त्रस्त मजदूर-किसानों का लाल परचम थाम, क्रांतिकारी साहित्य रचने को ही प्रमुख माना, किसी ने पूँजीवाद को गरियाया तो किसी ने व्यक्ति के सुख-दुःख को गले लगा अकेले आदमी की पीड़ा सुनाने में सार्थकता समझी। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य में कई खेमे बने, कई युगों में कविता, साहित्य बँटा और हर युग के नायक ने साहित्य के नए उद्देश्य का नारा लगाया। उसकी नयी परिभाषा गढ़ी।)

2

काव्य सिद्धांत

काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्‌भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र के लिए पुराने नाम 'साहित्यशास्त्र' तथा 'अलंकारशास्त्र' हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वांग्मय को समेटने पर इसे 'समीक्षाशास्त्र' भी कहा जाने लगा। संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में अलंकारशास्त्र ही नितान्त लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' (क्रिया काव्यग्रंथ, कल्प विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट 64 कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित 'साहित्य विद्या' नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके।

युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है, फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धान्तों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन 'नवआलोचना' (नियो-क्रिटिसिज्म) तक के सिद्धांतों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात साफ हो जाती है। भारत में काव्य नाटकादि कृतियों को 'लक्ष्य ग्रंथ' तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को 'लक्षण ग्रंथ' कहा जाता है। ये लक्षण ग्रंथ सदा लक्ष्य ग्रंथ

के पश्चाद्भावनी तथा अनुगामी है और महान् कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

मूलत: काव्यशास्त्रीय चिंतन शब्दकाव्य (महाकाव्य एवं मुक्तक) तथा दृश्यकाव्य (नाटक) के ही सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर करता देखा जाता है। अरस्तू के 'पोयटिक्स' में कामेडी, ट्रैजेडी, तथा एपिक की समीक्षात्मक कसौटी का आकलन है और भरत का नाट्यशास्त्र केवल रूपक या दृश्यकाव्य की ही समीक्षा के सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भारत और पश्चिम में यह चिन्तन ई.पू. तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है, जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार-विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।

'अलंकारशास्त्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दोनों अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं -

(1) अलंक्रियते अनेन इति अलंकार: ('काव्य में शोभा के आधायक उपमा, रूपक आदि, संकीर्ण अर्थ),

(2) अलंक्रियते इति अलंकार: ('काव्य की शोभा', व्यापक अर्थ)।

व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधा एक समस्त तत्वों - गुण, रीति, रस, वृत्ति ध्वनि आदि--का विजाएक शास्त्र है, जिसमें इन तत्वों के स्वरूप तथा महत्त्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्त्व को अभिव्यक्त करता है।

साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में 'अलंकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव में काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलंकार' के गंभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्त्व उद्भूत हुआ और दूसरी ओर अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिए रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

प्राचीनता

अलंकारों की, विशेषत: उपमा, रूपक, स्वाभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परन्तु वैदिक युग

में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना की परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमा-प्रकारों का भी दृष्टांतपुररूसर वर्णन किया है (निरुक्त 3। 13-18)। इससे स्पष्ट है कि अलंकार का उदय यास्क (सप्तम शती ई.पू.) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए हैं, परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यों में से केवल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय शताब्दियों पूर्व 'अलंकारशास्त्र' प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

परिचय

काव्यकृति मूलत: तिहरे आयाम से जुड़ी है -काव्य, काव्यकर्ता (कवि), काव्यानुशीलक। जहाँ तक नाट्यरूप काव्य का सम्बन्ध है, काव्यकर्ता के साथ उसमें नाट्य प्रयोगकर्ता नटादि का भी समावेश हो जाता है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों का ध्यान इन सभी पक्षों की ओर सदा जाता रहा है। सबसे पहला प्रश्न जो कवि के संबंध में उठता है, वह यह है कि कवि या कलाकार अन्य मानव, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक विचारक से किस बात में विशिष्ट है और क्यों खास प्रकृति के व्यक्ति ही कवि या कलाकार बन पाते हैं? दूसरे शब्दों में, कवित्वशक्ति के हेतु क्या है। सुकरात और प्लेटो कवित्वशक्ति को दैवी आवेश की देन मानते हैं, अध्ययन और अभ्यास का प्रतिफल नहीं। भारत के काव्यशास्त्री काव्यरचना में प्रतिभा को प्रधान हेतु मानते हुए भी इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कम महत्त्व नहीं देते। परम्परावादी आलोचक केवल प्रतिभा को काव्यशक्ति का हेतु नहीं मानते। उधर पश्चिम के रोमैंटिक विचारक कलाकृति की मूल प्रेरणा एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं। फिर भी इस बात में सभी चिंतक एकमत हैं कि कवि विशिष्ट प्रतिभाशील व्यक्ति है, जो अपनी प्रतिभा के माध्यम से काव्य के रूप में नई सृष्टि की उद्भावना करता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कविता का प्रयोजन क्या है? अखिर कवि कविता क्यों करता है? इस सम्बन्ध में चिंतकों के दो दल हैं– परंपरावादी चिंतक काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नैतिक उपदेश की प्रतिष्ठा मानते हैं। काव्य द्वारा कवि किन्ही मूल्यों की स्थापना करना चाहता है, ठीक उसी तरह जैसे धार्मिक उपदेशक। किन्तु फर्क यह है कि उसकी कृति शैलीशिल्प की दृष्टि से रमणीय और रसमय होने के कारण धर्मग्रंथों या नीतिग्रंथों से विशिष्ट बन जाती है। स्वच्छंदतावादी चिंतक इसे नहीं स्वीकारता। वह कवि को उपदेशक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि सर्जक है, सृष्टिकर्ता है, जो ब्रह्मा से भी विशिष्ट है। वह अपनी सृष्टि, अपनी कलाकृति के माध्यम से हमारे सामने रखता है। वस्तुत: वह अपनी अनुभूतियों को काव्य के द्वारा वाणी देना चाहता है। काव्य और कुछ नहीं, उसकी समस्त अनुभूतियों का सारभत तत्त्व और उसके अंतस् में उमड़ते-घुमड़ते भावों का स्वत: बहा हुआ परिवाह मात्र है। पूर्व और पश्चिम के प्राय: सभी मतमतांतर इन दो खेवों में मजे से समेटे जा सकते हैं।

काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे समक्ष चाक्षुष (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनती है और इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित् (चेतना) को प्रभावित करती है। अत: काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है, जिसके अनेक पहलुओं को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षो से ऊहापोह करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के विषय में उठता है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक वैज्ञानिक सत्य से मेल खाती हैं। यह प्राय: सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि काव्य में तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उसमें जिस सत्य का समुद्घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभाव्य सत्य होता है। इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को भ्रमित या सत्य से बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से 'दुहरा दूर' सिद्ध किया है। भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रान्ति नहीं माना हैं, यद्यपि एक स्थान पर भट्ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या करते हुए नाटक के अभिनय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में राम आदि के भ्रांतिज्ञान का संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञान के विकास के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस पक्ष को और अधिक मजबूत किया है। कहा जाता है, कला मात्र भ्रांति है (आर्ट इज नथिंग बट इल्यूजन)। इसी से मिलता जुलता एक और मत भी है। कला कुछ नहीं महज सम्मोहन है

(आर्ट इज नथिंग बट हेल्यूसिनेशन)। इधर नृतत्व विज्ञान के अध्ययन के आधार पर भी काव्य की सम्मोहिनी शक्ति पर जोर दिया जाने लगा है और यह मत प्रबल हो उठा है कि काव्य या कला में पुराने आदिम समाज के ओझाओं के मंत्रों की तरह जादुई असर होता है (आर्ट इज मैजिक)।

यहीं यह सवाल उठता है कि आखिर यह भ्रान्ति, सम्मोहन या जादुई असर, अगर हम पुराने विद्वानों के शब्द को उधार लेना चाहें तो काव्य का 'चमत्कार', किन तत्वों के कारण पैदा होता है? काव्य मूलतः भाषा में निबद्ध होता है। भाषा शब्द और अर्थ का संश्लिष्ट रूप है, अतः पहला सवाल यह उठेगा कि काव्य केवल शब्दमय है या शब्दार्थमय। भारत में ये दोनों मत प्रचलित हैं। भामह, कुन्तक, मम्मट जैसे चिंतक शब्द और अर्थ के सम्मिलित तत्त्व को काव्य मानते हैं, केवल शब्द को या केवल अर्थ को नहीं, क्योंकि काव्य में दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस मत के अनुसार काव्य को चमत्कारशाली या सम्मोहक बनाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता पर कवि को समान बल देना होगा। दूसरा मत काव्य की प्रभावान्विति में शब्द पर, अर्थात् उसके बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा श्रवण पक्ष पर, अधिक जोर देता है। प्रसिद्ध संस्कृत कवि पंडितराज जगन्नाथ का यही मत है। यह मत उन लोगों का जान पड़ता है, जो काव्य की लय (रिद्म), शब्दचयन, छन्द और श्रावण बिंबवत्ता पर अधिक जोर देते हैं। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी समीक्षक, विशेषतः फ्रांस के प्रतीकवादी कवि और आलोचक, साफ कहते हैं कि काव्य अर्थ या विचार से नहीं बनता बल्कि शब्दों से बनता है (पोयट्री इज नाट मेड ऑव आइडियाज बट ऑव वर्ड्स)। अगर इस मत की तुलना हम ओझाओं के निरर्थक शाबरजाल मंत्रों से करें तो पता चलेगा कि यहाँ भी अर्थ का कोई महत्त्व नहीं, अपितु शब्दों की लय, झाड़ फूँक करने वाले ओझा के मंत्रोच्चार का लहजा ही रोगी को प्रभावित कर मनश्चिकित्सा करता कहा जाता है। यही पद्धति मनोविश्लेषणात्मक उपचार की भी है।

काव्य के प्रभाव को पैदा करने में शब्द और अर्थ का विशेष महत्त्व माना गया है, इसलिए काव्यशास्त्रीय चिंतन में शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना लाजमी हो जाता है। शब्द का अपने परम्परागत अर्थ से नियत सम्बन्ध होता है। इस संबंध को हमारे यहाँ अभिधा व्यापार कहा गया हैं। किन्तु भाषा में इस व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी कार्य करता देखा जाता है, जहाँ शब्द अपने नियत अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ की

प्रतीति भी करा सकता है, जिसे लक्षणा व्यापार कहते हैं। अरस्तू ने भी भाषा के इन दोनों व्यापारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रिटोरिक्स' में किया है। काव्यभाषा में वस्तुतः शब्द अभिधापरक न होकर लाक्षणिक होते हैं। इस बात पर इधर पश्चिम में अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है और इसकी शुरूआत स्वच्छन्दतावादी कवि और विचारक कॉलरिज ने की थी। उसके अनुसार समस्त काव्यभाषा लाक्षणिक (मेटाफरिक) है। यह मत आई.ए.रिचर्ड्ध्स, एम्पसन आदि अन्य आधुनिक काव्यचिंतकों ने भी स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार काव्य में उपात्त बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक सभी भाषा की लाक्षाणिक प्रक्रियाएँ हैं और इतना ही नहीं, काव्य का छंदोविधान, लय और शब्दशय्या का प्रयोजन भी सर्वथा लाक्षणिक है। इस मत से मिलता-जुलता मत हमारे यहाँ ध्वनिवादी काव्यशास्त्री का है, जो काव्यार्थप्रतीति में लक्षणा से भी एक कदम आगे बढ़कर व्यंजना की परिकल्पना करते हैं और काव्य के समस्त अवयवों को अनुभूति या रसरूप व्यंग्य का व्यंजक मानते हैं। उधर वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी काव्य में उपात्त शब्द और अर्थ के व्यापार को साधारण अभिधा न मानकर विचित्राभिधा या वक्रोक्ति कहते हैं और इस वक्रोक्ति का विनियोग वर्ण, पद, वाक्य, अर्थप्रकरण, प्रबंध जैसे काव्यांगों में निर्दिष्ट करते हैं। कुंतक के इस विभाजन की मूल नीव वस्तुतः वामन के रीतिवादी सिद्धांत पर टिकी है। यह काव्य की संघटना या संरचना का विश्लेषण कर उसके उन अंगों के सम्मोहक तत्त्व को समुद्घाटित करती है, जो काव्य सुनने या पढ़नेवाले को प्रभावित करते हैं। यह विश्लेषण एक ओर व्याकरण और भाषाशास्त्र से और दूसरी और कलाशास्त्रीय चिंतन से जुड़ा हुआ है। इधर अमेरिका में जो संरचनावादी पद्धति की नई काव्यसमीक्षा चल पड़ी है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर चली, जिसका सूत्रपात संस्कृत काव्यों के विवेचन के संबंध में हमारे यहाँ अपने-अपने ढंग से वामन, आनन्दवर्धन और कुन्तक कर चुके हैं।

निबन्ध की सीमा देखते हुए यहाँ काव्य के विभिन्न अंगों पर समय-समय पर हुए सभी विचारों का विवेचन करना संभव नहीं है। काव्य के मूलतः दो पक्ष हैं। एक है कथ्यपक्ष, जिसे हम विषय-वस्तु के विशेष प्रकार के अभिधान में और उससे अभिव्यक्त कलात्मक अनुभूति या रसादि की आंतरिक संवेदना में पाते हैं। दूसरा है काव्य का शैलीपक्ष जिसमें लय, छन्द, शब्दचयन, गुण और अलंकार की योजना का विवेचन होता है। इन तत्वों पर पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने विस्तार से चिंतन किया है। किन्तु यहाँ इतना समझा लेना होगा कि काव्य की

प्रभावान्विति समग्र होती है। ये सभी अवयव अपने अपने ढंग से उस समग्र प्रभावान्विति में योगदान करते देखे जाते हैं। हमारे यहाँ अलंकारवादी और रीतिवादी समीक्षक इस समग्र प्रभावान्वितिवाले मत को नहीं मानते। वे काव्य का सौंदर्य या चमत्कार शब्द अर्थ के अलंकार में या विशिष्ट पदरचना में मानते हैं। किंतु वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी प्रभाव की दृष्टि से काव्य की समग्रता को लेकर चलते हैं, भले ही विश्लेषण की दृष्टि से वे भी उसके तत्तत् अंश की मीमांसा करते हों। पश्चिम में परंपरावादी समीक्षक इसी तरह काव्य की समग्रता को प्रभाव की दृष्टि से नहीं आँकते और काव्य में अलंकार (फिगर्स), उक्तिवैचित्र्य (विट्), दूरारूढ़ कल्पना (फैंसी) को महत्त्व देते, देखे जाते हैं। वहाँ भी ईसा की दूसरी शती में एक ऐसा चिंतक हुआ है, जिसने काव्य की इस समग्रता के सिद्धांत को प्रतिष्ठापित किया था। लोंगिनुस के उदात्त संबंधी सिद्धांत का मूल भाव यही है। पश्चिम के रोमैंटिक कवि और आलोचक भी काव्य का चमत्कार समग्रता में ही मानते हैं और कुछ ऐसी ही धारणा हिंदी के छायावादी और छायावादोत्तर आलोचकों की है। हमारे यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार जैसे विविध काव्यसिद्धांत जो चल पड़े थे, वे सब मूलतः काव्य का सौंदर्य किस अंश में है, इसी आधार पर हैं। इनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा।

कवि और काव्य के बाद तीसरा तत्त्व काव्य का श्रोता या पाठक और नाटक का दर्शक है, जिसे ध्वनिवादी के शब्दों में सहृदय कहा जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन के समय उसमें तन्मयीभूत होकर कवि के समान हृदयवाला बन जाए। उसकी यह समानहृदयता काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रादि या नायकादि से भी होती है। इस समानहृदयता को स्थापित करने के लिए भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की थी, जिसे अभिनवगुप्त ने भी मान लिया है। भारत के इन रसवादियों के अनुसार काव्यानुशीलक के मानस में राग द्वेषादि रूप रज और तम गुणों का तिरोभाव हो जाता है तथा सत्य के उद्रेक से मन को विश्रांति का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त इस स्थिति को योगियों की समाधिस्थिति के समान मानते हैं। पश्चिम में काव्य की आत्मा को रस जैसे तत्त्व के रूप में मानने वाला कोई सिद्धान्त उदित नहीं हुआ है, किन्तु वहाँ 19वीं सदी में स्वच्छन्दतावाद के उदय के कारण यह सिद्धान्त विकसित हुआ है कि काव्य का श्रोता या पाठक कवि या कविवर्णित पात्र के साथ समानुभूति (एम्पैथी) या सहानुभूति (सिम्पैथी) का

अनुभव करता है, जैसी हमें शेक्सपियर के हैमलेट या मैकबेथ के साथ तथा शैली के प्रॉमिथ्युस के साथ होती है।

अपने यहाँ, रसदशा तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभिनवगुप्त के यहाँ मिलता है, पर वह ढाँचा मात्र है। अभी हाल में हुए मनोविज्ञानगत शोधों के कारण इस पक्ष पर अधिक प्रकाश पड़ा है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा, जिसमें शरीरक्रिया के आधार पर हमारे स्नायुकेंद्र के समुत्तेजन का अध्ययन किया जाता है और श्रावण, चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज तथा रसनज बिंबों का अथवा उनकी कल्पना मात्र का हमारे मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है और उससे हमारा मानस कैसे आंदोलित होता है, इस पर खोजें हुई हैं और होती जा रही हैं, जो काव्य और कलाकृति का काव्यनुशीलक पर कैसा, क्यों और कैसे प्रभाव पड़ता है, इसके विवेचन में व्यस्त हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि आज काव्यशास्त्रीय चिंतन का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। वह एक ओर व्याकरण, भाषाशास्त्र, कलाशास्त्र, दर्शन और छन्दशास्त्र के छोरों को छूता है, तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से भी जा जुड़ा है। इतना ही नहीं, जब हम काव्य के ऐतिहासिक, सामाजिक प्रेरणास्रोतों की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तो काव्यशास्त्र का दायरा और बढ़ जाता है और वह समाजशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक चिंतन से भी जा जुड़ता है। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कई दृष्टिभंगिमाएँ मिलेंगी। कुछ ऐसी हैं, जो परंपरावादी पूर्वी या पश्चिमी साँचे में ढली हैं, कुछ पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, कलावादी, दादावादी, भविष्यवादी या अस्तित्ववादी सिद्धांतों से जुड़ी हैं और कुछ या तो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद अथवा मार्क्स के सामाजिक यथार्थवादी दर्शन से सम्बद्ध हैं।

काव्य-सम्प्रदाय

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों की विशिष्टता की सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अंगों पर महत्त्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य सम्प्रदायों की संख्या छह मानी जा सकती है-

(1) रस सम्प्रदाय,
(2) अलंकार सम्प्रदाय,
(3) रीति या गुण सम्प्रदाय,

(4) वक्रोक्ति सम्प्रदाय,

(5) ध्वनि सम्प्रदाय,

(6) औचित्य सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने अपने नाम के अनुसार तत्तत् (वे गुण) 'काव्य की आत्मा' अर्थात् मुख्य प्राण स्वीकार किया है।

(1) रस संप्रदाय के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने नाट्य रस का ही मुख्यत: विश्लेषण किया और उस विवरण को अवान्तर आचार्यों ने काव्य रस के लिए भी प्रामाणिक माना।

(2) अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है।

(3) रीति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) हैं, जिन्होंने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। दण्डी ने भी रीति के उभय प्रकार--वैदर्भी तथा गौड़ी--की अपने 'काव्यादर्श' में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परन्तु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है।

(4) वक्रोक्ति संप्रदाय की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुन्तक को (10वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है, जिन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है।

(5) ध्वनि संप्रदाय का प्रवर्तन आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगान्तरकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (10वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (13वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (14वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी का मध्यकाल)--इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं।

(6) औचित्य संप्रदाय के प्रतिष्ठाता क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी का मध्यकाल) ने भरत, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में औचित्य तत्त्व को प्रमुख तत्त्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्त्व

यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षा संसार के लिए अलंकार शास्त्र की काव्यतत्वों की चार अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन है, जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्य तत्त्व हैं--औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस।

औचित्य का तत्त्व लोक व्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है। आनन्दवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है-

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम।
औचित्योपनिधबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)।

वक्रोक्ति लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करने वाला काव्य तत्व है।

ध्वनि का तत्त्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता, जितना हमारे कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ 'व्यंजना' नामक एक विशिष्ट शब्द व्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनि काव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक

एबरक्रांबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्त्व की ओर अभी-अभी आकृष्ट हुई है।

रसतत्व की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है, चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझाने वाले दर्शन की छानबीन से कथमपि परांमुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों-- 'पोएटिक्स', 'श्रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'- का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्त्वशाली है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

काव्य-लक्षण

काव्य, मनुष्य-चेतना की महत्तम सृष्टि है। काव्यशास्त्र में काव्य का विश्लेषण किया जाता है। काव्य का लक्षण निर्धारित करना ही काव्यशास्त्र का प्रयोजन है। लक्षण का अर्थ है, 'असाधारण अर्थ'। वस्तुतः कोई कृति साहित्यिक कृति है या नहीं, यह जानना आवश्यक है और इसी के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक दृषिटकोण क्या है या साहित्य (काव्य) क्या है, उसकी परिभाषा क्या है। दूसरे शब्दों में, काव्य का वह असाधारण धर्म क्या है, जिसमें काव्य, 'काव्य' कहलाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'परिभाषा' को 'लक्षण' शब्द से अभिहित किया गया है। परिभाषा (लक्षण) के तीन दोष कहे जाते हैं- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। काव्य एवं काव्यांगों की परिभाषा करते समय सभी आचार्यों ने बड़े सजग होकर यह प्रयास किया है कि उनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण अथवा सिद्धान्त निर्दोष हों। कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'लक्षण' निम्नलिखित हैं-

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है।) (भामह) ,

संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, पदावली काव्यम् (अग्नि पुराण),

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (दंडी),

ननु शब्दार्थौ कायम् (रुद्रट),

काव्य शब्दोयं गुणलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (आचार्य वामन,

शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् (आनन्दवर्धन),

निर्दोषं गुणवत् काव्यं अलंकारैरलंकृतं रसान्तितम् (भोजराज),

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (मम्मट),

गुणालंकाररीतिरससहितौ दोषरहिती शब्दार्थौ काव्यम् (वाग्भट),

निर्दोषा लक्षणवी सरीतिर्गुणभूषिता, सालंकाररसानेकवृत्तिर्भाक् काव्यशब्दभाक् (जयदेव),

काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् (आचार्य शौद्धोदनि),

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ),

गुणवदर्लकृतंच काव्यम् (राजशेखर)।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र -- भरतमुनि

काव्यप्रकाश -- मम्मट

टीकाएँ

अलंकारसर्वस्व–रुय्यक

संकेत टीका–माणिक्यचंद्र सूरि (रचनाकाल 1160 ई.)।

दीपिका–चंडीदास (13वीं शती)।

काव्यप्रदीप–गोविंद ठक्कुर (14वीं शती का अंतभाग)।

सुधासागर या सुबोधिनी–भीमसेन दीक्षित (रचनाकाल 1723 ई.)।

दीपिका–जयंतभट्ट (रचनाकाल 1294 ई.)।

काव्यप्रकाशदर्पण–विश्वनाथ कविराज (14वीं शती)।

विस्तारिका–परमानंद चक्रवर्ती (14वीं शती)।

साहित्यदर्पण–विश्वनाथ

काव्यादर्श–दण्डी

काव्यमीमांसा–कविराज राजशेखर (880-920 ई.)।

दशरूपकम्–धनंजय

अवलोक–धनिक (धनंजय के लघु भ्राता)।

ध्वन्यालोक–आनन्दवर्धन।

लोचन–अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका)।
काव्यप्रकाशसंकेत–माणिक्यचंद्र (1159 ई)
अलंकारसर्वस्व–राजानक रुय्यक
चंद्रालोक–जयदेव
अलंकारशेखर–केशव मिश्र

3

रस का परिचय

रस की परिभाषा– सबसे पहले भरत मुनि ने रस का उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ' नाट्यशास्त्र' में ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास किया था । उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पति होती है। उक्त सूत्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त के आधार पर 'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मभट्ट ने कहा है कि आलम्बन विभाग से उदबुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट तथा अनुभाव द्वारा व्यक्त हृदय का 'स्थायीभाव' ही रस-दशा को प्राप्त होता है ।

उदाहरण- राम पुष्पवाटिका में घूम रहे हैं । एक और से जानकीजी आती है। एकान्त हैं और प्रातः कालीन वायु । पुष्पों की छटा मन में मोह पैदा करती हैं। राम इस दशा में जानकी जी पर मुग्ध होकर उनकी ओर आकृष्ट होते हैं । राम को जानकी जी की ओर देखने से इच्छा और फिर लज्जा से हर्ष और रोमांच आदि होते है । इन सारे वर्णन को सुन-पढ़कर श्रोता-पाठक के मन में 'रति' जागरित होती है । यहाँ जानकी जी 'आलम्बन विभाव', एकान्त तथा प्रातःकालीन वाटिका का दृश्य 'उद्दीपन विभाव' सीता और राम में कटाक्ष-हर्ष-लज्जा-रोमांच आदि 'व्यभिचारीभाव' हैं, जो सब मिलकर 'स्थायी भाव' ' रति' को उत्पन्न कर 'शृंगार रस' का संचार करते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा और व्याख्या में कई पारिभाषिक शब्द आए हैं, जो रस के चार तत्त्व है । जैसे–(1) विभाव, (2) अनुभाव, (3) व्यभिचारी भाव और (4) स्थायी भाव ।

1 विभाव

रस का दूसरा अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। भावों का विभाव करने वाले अथवा उन्हें आस्वाद योग्य बनाने वाले कारण विभाव कहलाते हैं। विभाव कारण हेतु निर्मित आदि से सभी पर्यायवाची शब्द हैं। विभाव का मूल कार्य सामाजिक हृदय में विद्यमान भावों की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी गई है।

विभाव के दो प्रकार माने जाते हैं–

1 आलंबन विभाव और 2 उद्दीपन विभाव

आलंबन का अर्थ है आधार या आश्रय अर्थात जिसका अवलंब का आधार लेकर स्थाई भावों की जागृति होती है, उन्हें आलंबन कहते हैं। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि जो सोए हुए मनोभावों को जागृत करते हैं वह आलंबन विभाव कहलाते हैं।

जैसे–

श्रृंगार रस के अंतर्गत नायक–नायिका आलंबन होंगे , अथवा वीर रस के अंतर्गत युद्ध के समय में भाट एवं चरणों के गीत चुनकर शत्रु को देखकर योद्धा के मन में उत्साह भाव जागृत होगा। इसी प्रकार आलंबन के चेष्टाएं उद्दीपन विभाव कहलाती है, जिसके अंतर्गत देशकाल और वातावरण को भी सम्मिलित किया जाता है।

उद्दीपन का अर्थ है, उद्दीप्त करना भड़काना या बढ़ावा देना जो जागृत भाव को उद्दीप्त करें, वह उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

उदाहरण के लिए

श्रृंगार रस के अंतर्गत –चांदनी रात, प्राकृतिक सुषमा, विहार, सरोवर आदि।

वीररस –के अंतर्गत शत्रु की सेना , रणभूमि , शत्रु की ललकार ,युद्ध वाद्य आदि उद्दीपन विभाव होंगे।

2 अनुभाव

रस योजना का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग है। आलंबन और उद्दीपन के कारण जो कार्य होता है, उसे अनुभव कहते हैं। शास्त्र के अनुसार आश्रय के मनोगत भावों को व्यक्त करने वाली शारीरिक चेष्टाएं अनुभव कहलाती है।

भावों के पश्चात उत्पन्न होने के कारण इन्हें अनुभव कहा जाता है।

उदाहरण के लिए श्रृंगार रस के अंतर्गत नायिका के कटाक्ष , वेश-भूषा या कामउद्दीपन अंग संचालन आदि तथा वीर रस के अंतर्गत -नाक का फैल जाना , भौंह टेढ़ी हो जाना , शरीर में कंपन आदि अनुभव कहे गए हैं।

अनुभवों की संख्या 4 कही गई है

सात्विक , कायिक , मानसिक और आहार्य।

कवि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से इन सभी अनुभव का यथा स्थान प्रयोग करता चलता है।

सात्विक वह अनुभव है, जो स्थिति के अनुरूप स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं, इनकी संख्या 8 मानी गई है -स्तंभ , स्वेद , रोमांच , स्वरभंग , कंपन , विवरण , अश्रु , प्रलय , परिस्थिति के अनुरुप उत्पन्न शारीरिक चेष्टाओं का एक अनुभव कहलाती है। जैसे– क्रोध में कटु वचन कहना , पुलकित होना , आंखें झुकाना आदि मन या हृदय की वृत्ति से उत्पन्न हर्ष विषाद आदि का जन्म मानसिक अनुभव कहलाता है।

बनावटी अलंकरण भावानुरूप वेश रचना आहार्य अनुभव कहलाती है।

3 संचारी भाव

रस के अंतिम महत्त्वपूर्ण अंग संचारी भाव को माना गया है।

आचार्य भरतमुनि ने रस सूत्र व्यभिचारी नाम से जिसका प्रयोग किया है वह कालांतर में संचारी नाम से जाना जाता है।

मानव रक्त संचरण करने वाले भाव ही संचारी भाव कहलाते हैं यह तत्काल बनते हैं एवं मिटते हैं जैसे-पानी में बनने वाले बुलबुले क्षणिक होने पर भी आकर्षक एवं स्थिति परिचायक होती हैं, वैसे ही इनके भी स्थिति को समझना चाहिए सामान्य शब्दों में स्थाई भाव के जागृत एवं उद्दीपन होने पर जो भाव तरंगों की भांति अथवा जल के बुलबुलों की भांति उड़ते हैं और विलीन हो जाते हैं तथा स्थाई भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होते हैं, उन्हीं को संचारी भाव कहते हैं।

संचारी भावों की संख्या 33 मानी गई है–

निर्वेद , स्तब्ध , गिलानी , शंका या भ्रम , आलस्य , दैन्य , चिंता , स्वप्न , उन्माद , बीड़ा , सफलता , हर्ष , आवेद , जड़ता , गर्व , विषाद , निद्रा , स्वप्न , उन्माद , त्रास , धृति , समर्थ , उग्रता , व्याधि , मरण , वितर्क आदि।

वास्तव में काव्य को आस्वाद योग्य रस ही बनाता है।

इस के बिना काव्य निराधार एवं प्राणहीन है, अत: रस की जानकारी रखते हुए रसयुक्त काव्य पढ़ना साहित्य शिक्षण का मूल धर्म है, अत: सब होकर रसयुक्त की चर्चा करते हुए उदाहरण सहित रूप को जाने -परखेंगे। आचार्य भरतमुनि का मानना है कि अनेक द्रव्यों से मिलाकर तैयार किया गया प्रमाणक द्रव्य नहीं खट्टा होता है ना मीठा और ना ही तीखा।

बल्की इन सब से अलग होता है, ठीक उसी प्रकार विविध भाव से युक्त रस का स्वाद मिला-जुला और आनंद दायक होता है। अभिनवगुप्त रस को आलोकिक आनंदमई चेतना मानते हैं , जबकि आचार्य विश्वनाथ का मानना है कि रस अखंड और स्वयं प्रकाशित होने वाला भाव है, जिसका आनंद ब्रह्मानंद के समान है।

रस के आनंद का आस्वाद करते समय भाव समाप्ति रहती है।

रस के भेद

इस लेख में आपको रस के ग्यारह भेद और उनके उदाहरण पढ़ने को मिलेंगे। मुख्यत: रस 10 प्रकार के होते हैं, परंतु हमारे आचार्यों द्वारा एक और रस भी स्वीकृत किया गया है, जिसे हम भक्ति रस कहते हैं।

1. शृंगार रस

शृंगार रस ' रसों का राजा ' एवं महत्त्वपूर्ण प्रथम रस माना गया है। विद्वानों के मतानुसार **शृंगा**र रस की उत्पत्ति 'शृंग. आर ' से हुई है। इसमें 'शृंग' का अर्थ है -काम की वृद्धि तथा 'आर' का अर्थ है प्राप्ति। अर्थात कामवासना की वृद्धि एवं प्राप्ति ही शृंगार है, इसका स्थाई भाव 'रति' है। सहृदय के हृदय में संस्कार रुप में या जन्मजात रूप में विद्यमान रति नामक स्थाई भाव अपने प्रतिकूल विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से अभिव्यक्त होकर जब आशीर्वाद योग्य बन जाता है, तब वह शृंगार में परिणत हो जाता है। शृंगार रस में परिणत हो जाता है शृंगार का आलंबन विभाव नायक-नायिका या प्रेमी प्रेमिका है।

उद्दीपन विभाव नायक-नायिका की परस्पर चेष्टाएं उद्यान , लता कुंज आदि है।

अनुभाव -अनुराग पूर्वक स्पष्ट अवलोकन , आलिंगन , रोमांच , स्वेद आदि है।

उग्रता , मरण और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य सभी संचारी भाव शृंगार के अंतर्गत आते हैं।

शृंगार रस के सुखद एवं दु:खद दोनों प्रकार की अनुभूतियां होती हैं इसी कारण इसके दो रूप

1. संयोग शृंगार एवं
2. वियोग शृंगार माने गए हैं।

(i) संयोग शृंगार (Sanyog shringar)–संयोग शृंगार के अंतर्गत नायक –नायिका के परस्पर मिलन प्रेमपूर्ण कार्यकलाप एवं सुखद अनुभूतियों का वर्णन होता है। जैसे–

"कहत, नटत , रीझत , खीझत , मिलत , खिलत , लजियात।
भरै भौन में करत है , नैनन ही सों बाता। ।"

प्रस्तुत दोहे में बिहारी कवि ने एक नायक –नायिका के प्रेमपूर्ण चेष्टाओं का बड़ा कुशलतापूर्वक वर्णन किया है, अत: यहां संयोग शृंगार है।

2 वियोग शृंगार (Viyog shringar ras)

इसे 'विप्रलंभ शृंगार' भी कहा कहा जाता है।

वियोग शृंगार वहां होता है, जहां नायक–नायिका में परस्पर उत्कट प्रेम होने के बाद भी उनका मिलन नहीं हो पाता।

इसके अंतर्गत विरह से व्यथित नायक–नायिका के मनोभावों को व्यक्त किया जाता है–

"अति मलीन वृषभानु कुमारी
हरि ॠम जल संतर तनु भीजै ,
ता लालत न घुआवति सारी।"

मधुबन तुम कत रहत हरे, विरह वियोग श्याम –सुंदर के ठाड़े क्यों न जरें।"

प्रस्तुत अंश में सूरदास जी ने कृष्ण के वियोग में राधा के मनोभावों एवं दु:ख का वर्णन किया है,

अत: यहां वियोग शृंगार है।

2. करुण रस

जहां किसी हानि के कारण शोक भाव उपस्थित होता है, वहां ' करुण रस ' उपस्थित होता है, पर हानि किसी अनिष्ट किसी के निधन अथवा प्रेमपात्र

के चिर वियोग के कारण संभव होता है। शास्त्र के अनुसार 'शोक' नामक स्थाई भाव अपने अनुकूल विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के सहयोग से अभिव्यक्त होकर जब आस्वाद का रूप धारण कर लेता है तब उसे करुण रस कहा जाता है।

प्रिय जन का वियोग, बंधु, विवश , पराधव, खोया ऐश्वर्य, दरिद्रता, दु:ख पूर्ण परिस्थितियां, आदि आलंबन है। प्रिय व्यक्ति की वस्तुएं, सुर्खियां , यश एवं गुण कथन संकटपूर्ण परिस्थितियां आदि उद्दीपन विभाव है।

करुण रस के अनुभाव –रोना , जमीन पर गिरना , प्रलाप करना , छाती पीटना, आंसू बहाना , छटपटाना आदि अनुभाव है।

इसके अंतर्गत निर्वेद, मोह, जड़ता, ग्लानि, चिंता, स्मृति, विषाद, मरण, घृणा आदि संचारी भाव आते हैं।

भवभूति का मानना है कि –

"करुण ही एकमात्र रस है, जिससे सहृदय पाठक सर्वाधिक संबंध स्थापित कर पाता है।"

यथा 'रामचरित्रमानस' में दशरथ के निधन वर्णन द्वारा करुण रस की चरम स्थिति का वर्णन किया गया है।

"राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयऊ सुरधाय॥"

आधुनिक कवियों ने करुण रस के अंतर्गत भी दरिद्रता एवं सामाजिक दु:ख-सुख का वर्णन सर्वाधिक किया है। इसी रूप में करुण रस की अभिव्यक्ति सर्वाधिक रूप में देखी जा सकती है। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' कृत ' उत्साह ' शीर्षक कविता में व्याकुल जन-मानस का वर्णन करते हुए बादलों को करुणा प्रवाहित करते हुए बरसने का वर्णन किया गया है–

"विकल विकल, उन्मन थे उन्मन
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आए अज्ञात दिशा से अनंत के घन।
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो-
बादल गरजो।"

Ras in hindi grammar with examples

3. वीर रस (Veer ras)

जहां विषय और वर्णन में उत्साह युक्त वीरता के भाव को प्रदर्शित किया जाता है वहां वीर रस होता है। शास्त्र के अनुसार उत्साह का संचार इसके अंतर्गत किया जाता है, किंतु इसमें प्रधानतया रणपराक्रम का ही वर्णन किया जाता है। सहृदय के हृदय में विद्यमान उत्साह नामक स्थाई भाव अपने अनुरूप विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहयोग से अभिव्यक्त होकर जब आस्वाद का रूप धारण कर लेता है , तब उसे ' वीर रस ' कहा जाता है।

आचार्यों के अनुसार वीर रस चार भेद हैं–

1. युद्धवीर,
2. धर्मवीर,
3. दानवीर और
4. दयावीर।

वीर रस का आलंबन–

शत्रु, तीर्थ स्थान, पर्व, धार्मिक ग्रंथ या दयनीय व्यक्ति माना गया है।

शत्रु का पराक्रम, अन्न दाताओं का दान, धार्मिक इतिहास आदि अन्य व्यक्ति की दुर्दशा वीर रस का उद्दीपन विभाव है।

गर्वोक्तियाँ , याचक का आदर सत्कार, धर्म के लिए कष्ट सहना , तथा दया पात्र के प्रति सांत्वना , अनुभाव है। धृति , स्मृति , गर्व , हर्ष , मति आदि वीर रस में आने वाले संचारी भाव हैं , तथा युद्धवीर का एक उदाहरण देखा जा सकता है, जिसमें वीर अभिमन्यु अपने साथी से युद्ध के संबंध में उत्साहवर्धक पंक्ति कह रहे हैं–

"हे सारथे है द्रौण क्या , देवेंद्र भी आकर अड़े।
है खैल क्षत्रिय बालकों का , व्यूह भेद न कर लड़े।
मैं सत्य कहता हूं सखे, सुकुमार मत जानो मुझें
यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा मानो मुझें
है औरों की बात क्या, गर्व में करता नहीं ,
मामा और निज तात से भी समर में डरता नहीं।।"
जाना दरिया के बहुत तेज

4 हास्य रस (Haasya ras)–हास्य रस मनोरंजक है। आचार्यों के मतानुसार 'हास्य' नामक स्थाई भाव अपने अनुकूल, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से अभिव्यक्त होकर जब आस्वाद का रूप धारण कर

लेता है तब उसे हास्य कहा जाता है। सामान्य विकृत आकार-प्रकार वेश-भूषा वाणी तथा आंगिक चेष्टाओं आदि को देखने से हास्य रस की निष्पत्ति होती है।

यह हास्य दो प्रकार का होता है

1. आत्मस्थ तथा ii परस्य–आत्मस्थ हास्य केवल हास्य के विषय को देखने मात्र से उत्पन्न होता है ,जबकि परस्त हास्य दूसरों को हंसते हुए देखने से प्रकट होता है। विकृत आकृति वाला व्यक्ति किसी की अनोखी और विचित्र वेश-भूषा हंसाने वाली या मूर्खतापूर्ण चेष्टा करने वाला व्यक्ति हास्य रस का आलंबन होता है जबकि आलंबन द्वारा की गई अनोखी एवं विचित्र चेष्टाएं उत्पन्न होती है। आंखों का मिचना, हंसते हंसते पेट पर बल पड़ जाना, आंखों में पानी आना, मुस्कुराहट , हंसी, ताली पीटना, आदि अनुभाव है, जबकि हास्य रस के अंतर्गत हर सफलता, अश्रु, उत्सुकता, स्नेह, आवेग, स्मृति आदि संचारी भाव होते हैं।

यथा एक हास्य रस का उदाहरण इस प्रकार है–

जिसमें पत्नी के बीमार पड़ने के चित्र को हल्की हास्यास्पद स्थिति का चित्रण काका हाथरसी अपने एक छंद में करते हैं–

"पत्नी खटिया पर पड़ी, व्याकुल घर के लोग।
व्याकुलता के कारण, समझ ना पाए रोग।
समझ न पाए रोग, तब एक वैद्य बुलाया।
इस को माता निकली है, उसने यह समझाया।
यह काका कविराय सुने, मेरे भाग्य विधाता।
हमने समझी थी पत्नी, यह तो निकली माता।।"

रामचरितमानस के अंश राम -लक्ष्मण -परशुराम संवाद मे लक्ष्मण द्वारा परशुराम का मजाक बनाना एवं उस पर हंसने का वर्णन है , इस अंश में हम हास्य-रस का पुट देख सकते हैं, यहां लक्ष्मण -परशुराम का मूर्खता को इंगित करते हुए उन पर हंसते हुए कहते हैं।

"बिहसि लखन बोले मृदु बानी। अहो मुनीसु महाभर यानी।
पुनि पुनि मोहि देखात कुहारु। चाहत उड़ावन कुंकी पहारू।"

5 रौद्र रस

क्रोध भाव को व्यंजित करने वाला अगला रौद्र रस है। शास्त्र के अनुसार सहृदय में वासना में विद्यमान क्रोध रस नामक स्थाई भाव अपने अनुरूप विभाव

, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से जब अभिव्यक्त होकर आस्वाद का रूप धारण कर लेता है , तब उसे रौद्र कहा जाता है। वस्तुतः जहां विरोध , अपमान या उपकार के कारण प्रतिशोध की भावना क्रोध उपजती है वहीं रौद्र रस साकार होता है। अतः अपराधी व्यक्ति , शत्रु , विपक्षी या दुराचारी रौद्र का आलंबन है।

अनिष्टकारी , निंदा , कठोर वचन , अपमानजनक वाक्य आदि उद्दीपन विभाव है। रौद्र रस का अनुभाव आंखों का लाल होना , होठों का फड़फड़ाना , भौहों का तेरेना , दांत पीसना , शत्रुओं को ललकारना , अस्त्र शस्त्र चलाना आदि है।

वही मोह , उग्रता , स्मृति , भावेश , चपलता , अति उत्सुकता , अमर्ष आदि संचारी भाव है।

यथा एक उदाहरण देखा जा सकता है, जिसमें कृष्ण के वचनों को सुनकर अर्जुन के क्रोध भाव को व्यक्त किया गया है–

"श्रीकृष्ण के सुन वचन, अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
लब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
संसार देखें अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वह हो गए उठ खड़े। ।"

राम लक्ष्मण परशुराम संवाद में भी इस उदाहरण को देखा जा सकता है–

"रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न संभार।
धनुही सम त्रिपुरारी द्यूत बिदित सकल संसारा। ।"

6. भयानक रस

शास्त्र के अनुसार किसी बलवान शत्रु या भयानक वस्तु को देखने पर उत्पन्न भय ही भयानक रस है। भय नामक स्थाई भाव जब अपने अनुरूप आलंबन, उद्दीपन एवं संचारी भावों का सहयोग प्राप्त कर आस्वाद का रूप धारण कर लेता है तो इसे भयानक कहा जाता है। इस का आलंबन भयावह या जंगली जानवर अथवा बलवान शत्रु है। निस्सहाय और निर्बल होना शत्रुओं या हिंसक कि चेष्टाएं उद्दीपन है, स्वेद , कंपन , रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं।

जबकि संचारी भावों के अंतर्गत प्रश्नों , गिलानी , दयनीय , शंका , चिंता , आवेश आदि आते हैं।

"एक और अजगरहि लखि , एक ओर मृगराय।
विकल बटोही बीच ही परयो मूर्छा खाए।"

प्रस्तुत उदाहरण में एक मुसाफिर अजगर और सिंह के मध्य फसने एवं उसके कार्य का वर्णन किया गया है।

7. वीभत्स रस

वीभत्स घृणा के भाव को प्रकट करने वाला रस है। आचार्यों के मतानुसार जब घृणा या जुगुप्सा का भाव अपने अनुरूप आलंबन , उद्दीपन एवं संचारी भाव के सहयोग से आस्वाद का रूप धारण कर लेता है तो इसे वीभत्स रस कहा जाता है। घृणास्पद व्यक्ति या वस्तुएं इसका आलंबन है। घृणित चेष्टाएं एवं ऐसी वस्तुओं की स्मृति उद्दीपन विभाव है। झुकना , मुंह फेरना , आंखें मूंद लेना इसके अनुभाव हैं , जबकि इसके अंतर्गत मोह , अपस्मार , आवेद , व्याधि , मरण , मूर्छा आदि संचारी भाव है।

इसका एक उदाहरण है–

"सिर पै बैठ्यो काग , आंख दोउ खात निकारत।
खींचत जिभहि स्यार, अतिहि आनंद उर धारत। ।"

उपयुक्त उदाहरण में शव को बांचते को और गिद्ध के घृणित विषय की प्रस्तुति के कारण यहां वीभत्स है।

8. अद्‌भुत रस

विस्मय करने वाला अद्‌भुत रस कहलाता है, जो विस्मय भाव अपने अनुकूल आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग पाकर आस्वाद का रूप धारण कर लेता है , तो उसे ' अद्‌भुत रस' कहते हैं। इस का आलंबन आलौकिक या विचित्र वस्तु या व्यक्ति है।

आलंबन की अद्‌भुत विशेषताएं एवं उसका श्रवण –वर्णन उद्दीपन है। इससे स्तंभ स्वेद , रोमांच , आश्चर्यजनक भाव , अनुभव उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त वितर्क , आवेश , हर्ष , स्मृति , मति , त्रासदी संचारी भाव हैं।

"अखिल भुवन चर अचर सब , हरिमुख में लखि मात।
चकित भई गदगद वचन विकसित दृग पुलकात।।"

प्रस्तुत अंश में माता यशोदा का कृष्ण के मुख में ब्रह्मांड दर्शन से उत्पन्न विषय के भाव को प्रस्तुत किया गया है।

यह असंभव से लगने वाले भाव को उत्पन्न करता है।

9. शांत रस

तत्वज्ञान और वैराग्य से शांत रस की उत्पत्ति मानी गई है , इसका स्थाई भाव ' निर्वेद ' या शम है, जो अपने अनुरूप विभाव , अनुभाव और संचारी भाव से संयुक्त होकर आस्वाद का रूप धारण करके शांत रस रूप में परिणत हो जाता है। संसार की क्षणभंगुरता कालचक्र की प्रबलता आदि इसके आलंबन है।

संसार के प्रति मन न लगना उचाटन का भाव या चेष्टाएं अनुभाव है, जबकि धृति , मति , विबोध , चिंता आदि इसके संचारी भाव है। उदाहरणत: -तुलसी के निम्न छंद हैं, संसार का सत्य बताया गया है कि समय चुकने के बाद मन पछताता है, अत: मन को सही समय पर सही क्रम के लिए प्रेरित करना चाहिए–

"मन पछितैही अवसर बीते
दुरलभ देह पाइ हरिपद भुज , करम वचन भरु हिते।
सहसबाहु दस बदन आदि नृप , बचे न काल बलिते। ।"

10. वात्सल्य रस

माता -पिता एवं संतान के प्रेम भाव को प्रकट करने वाला रस वात्सल्य रस है। 'वत्सल' नामक भाव जब अपने अनुरूप विभाव , अनुभाव और संचारी भाव से युक्त होकर आस्वाद का रूप धारण कर लेता है तब वह वत्सल रस में परिणत हो जाता है। माता -पिता एवं संतान इसके आलंबन है। माता -पिता संतान के मध्य क्रियाकलाप उद्दीपन है। आश्रय की चेष्टाएं प्रसन्नता का भाव आदि अनुभव है।

जबकि हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं।

इसका एक उदाहरण देखा जा सकता है, जिसमें बालक कृष्ण को घुटने के बल चलते देख यशोदा की प्रसन्नता का वर्णन किया गया है–

"किलकत कान्ह घुटवानि आवत।
मछिमय कनक नंद के भांजन बिंब परखिये धातात
बालदशा मुख निरटित जसोदा पुनि-पुनि चंद बुलवान।
अँचरा तर लै ढाँकि सुर के प्रभु को दूध पिलावत। ।"

11. भक्ति रस

भक्ति रस का स्थाई भाव है दास्य। मुख्य रूप से रस 10 प्रकार के ही माने गए हैं, परंतु हमारे आचार्यों द्वारा इस रस को स्वीकार किया गया है। इस रस में प्रभु की भक्ति और उनके गुणगान को देखा जा सकता है।

उदाहरण के लिए

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई, जो कि मीराबाई द्वारा लिखा गया है यह भक्ति रस का प्रमुख उदाहरण है।

रस (काव्य शास्त्र)

श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन तथा श्रवण में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य में रस कहलाता है। रस के जिस भाव से यह अनुभूति होती है कि वह रस है, उसे स्थायी भाव होता है। रस, छंद और अलंकार – काव्य रचना के आवश्यक अवयव हैं।

रस का शाब्दिक अर्थ है – निचोड़। काव्य में जो आनन्द आता है वह ही काव्य का रस है। काव्य में आने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है। संस्कृत में कहा गया है कि 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

रस अन्त:करण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनंद रूप है और यही आनंद विशाल का, विराट का अनुभव भी है। यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। आदमी इन्द्रियों पर संयम करता है, तो विषयों से अपने आप हट जाता है, परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में चरक, सुश्रुत में मिलता है। दूसरे अर्थ में, अवयव तत्त्व के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाय, व्यर्थ हो जाय पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है, तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है। उसकी भावता अपना रूपांतर कर लेती है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है।

विभिन्न सन्दर्भों में रस का अर्थ

एक प्रसिद्ध सूक्त है– रसौ वै सरू। अर्थात् वह परमात्मा ही रस रूप आनन्द है। 'कुमारसम्भव' में पानी, तरल और द्रव के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग

हुआ है। 'मनुस्मृति' मदिरा के लिए रस शब्द का प्रयोग करती है। मात्रा, खुराक और घूंट के अर्थ में रस शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वैशेषिक दर्शन' में चौबीस गुणों में एक गुण का नाम रस है। रस छह माने गए हैं- कटु, अम्ल, मधुर, लवण, तिक्त और कषाय। स्वाद, रूचि और इच्छा के अर्थ में भी कालिदास रस शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रेम की अनुभूति के लिए 'कुमारसम्भव' में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रघुवंश', आनन्द और प्रसन्नता के अर्थ में रस शब्द काम में लेता है। 'काव्यशास्त्र' में किसी कविता की भावभूमि को रस कहते हैं। रसपूर्ण वाक्य को काव्य कहते हैं।

भर्तृहरि सार, तत्त्व और सर्वोत्तम भाग के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग करते हैं। 'आयुर्वेद' में शरीर के संघटक तत्वों के लिए 'रस' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सप्तधातुओं को भी रस कहते हैं। पारे को रसेश्वर अथवा रसराज कहा है। पारसमणि को रसरत्न कहते हैं। मान्यता है कि पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। रसज्ञाता को रसग्रह कहा गया है। 'उत्तररामचरित' में इसके लिए रसज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। भर्तृहरि काव्यमर्मज्ञ को रससिद्ध कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' प्रत्यक्षीकरण और गुणागुण विवेचन के अर्थ में रस परीक्षा शब्द का प्रयोग करता है। नाटक के अर्थ में 'रसप्रबन्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

पारिभाषिक शब्दावली

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने रस की व्याख्या करते हुये कहा है -

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्ररस निष्पत्तिः।

अर्थात विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। सुप्रसिद्ध साहित्य दर्पण में कहा गया है, हृदय का स्थायी भाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस रूप में निष्पन्न हो जाता है।

रीतिकाल के प्रमुख कवि देव ने रस की परिभाषा इन शब्दों में की है –

जो विभाव अनुभाव अरू, विभचारिणु करि होई।

थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस होई

इस प्रकार रस के चार अंग हैं - स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव।

स्थायी भाव

भाव का अर्थ है-होना

सहृदय के अंत:करण में जो मनोविकार वासना या संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें कोई भी विरोधी या अविरोधी दबा नहीं सकता, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।

ये मानव मन में बीज रूप में, चिरकाल तक अचंचल होकर निवास करते हैं। ये संस्कार या भावना के द्योतक हैं। ये सभी मनुष्यों में उसी प्रकार छिपे रहते हैं जैसे– मिट्टी में गंध अविच्छिन्न रूप में समाई रहती है। ये इतने समर्थ होते हैं, कि अन्य भावों को अपने में विलीन कर लेते हैं।

इनकी संख्या 11 है - रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद, वात्सलता और ईश्वर विषयक प्रेम।

4

अरस्तु का विरेचन सिद्धांत

विरेचन सिद्धांत (Catharsis-कैथार्सिस) द्वारा अरस्तु ने प्रतिपादित किया कि कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप से विरेचन हो जाता है। सफल त्रासदी विरेचन द्वारा करुणा और त्रास के भावों को उद्‌बुद्ध करती है, उनका सामंजन करती है और इस प्रकार आनंद की भूमिका प्रस्तुत करती है। विरेचन से भावात्मक विश्रांति ही नहीं होती, भावात्मक परिष्कार भी होता है। इस तरह अरस्तु ने कला और काव्य को प्रशंसनीय, ग्राह्य और सायास रक्षनीय सिद्ध किया है।

अरस्तु ने इस सिद्धांत के द्वारा कला और काव्य की महत्ता को पुनर्प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया। अरस्तु के गुरू प्लेटो ने कवियों और कलाकारों को अपने आदर्श राज्य के बाहर रखने की सिफारिश की थी। उनका मानना था कि काव्य हमारी वासनाओं को पोषित करने और भड़काने में सहायक है, इसलिए निंदनीय और त्याज्य है। धार्मिक और उच्च कोटि का नैतिक साहित्य इसका अपवाद है, किंतु अधिकांश साहित्य इस आदर्श श्रेणी में नहीं आता है।

विरेचन सिद्धान्त का महत्त्व बहुविध है। प्रथम तो यह है कि उसने प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया और दूसरा यह कि उसने गत कितने ही वर्षों के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित किया।

अरस्तु का विरेचन सिद्धान्त अनुकरण सिद्धान्त के अतिरिक्त अरस्तू का दूसरा प्रमुख काव्य सिद्धान्त विरेचन का सिद्धान्त है। कविता के सम्बन्ध में प्लेटो का मत था कि वह अनुकरण की अनुकरण है, अंत: वह सत्य से तिगुनी दूरी पर है, अंत: त्याज्य है। कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है, साथ ही वह तर्क या बुद्धि को प्रभावित करने के स्थान पर हृदय या भावनाओं को प्रभावित करती है। प्लेटो की इस व्याख्या का कारण कदाचित् यह था कि वह कला के अध्ययन को नीति-शास्त्र से सम्बद्ध मानता था। इसके विपरीत अरस्तु का कला सम्बन्धी मत सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित था। अंत: उन्होंने प्लेटो के सिद्धान्त का विरोध करते हुए भावों के विरेचन की बात कही। अपने समय में प्रचलित चिकित्सा पद्धति के शब्द कैथासिस से संकेत ग्रहण कर, उन्होंने उस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वरा प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया।

विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख-अरस्तू ने न तो विरेचन सिद्धान्त की कोई परिभाषा ही अपने किसी ग्रन्थ में दी है और न कहीं उसकी व्याख्या ही की है। उन्होंने केवल दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है–प्रथम तो अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में जहाँ उन्होंने त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है-'त्रासदी किसी गंभीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के अलंकारों से भूषित भाषा होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिससे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि त्रासदी के मूलभाव त्रास और करुणा होते हैं और उन भावों को उद्‌बुद्ध करके शारीरिक परिष्कार के समान विरेचन की पद्धति से मानव मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है। दूसरे स्थान पर जहाँ विरेचन शब्द का उल्लेख अरस्तू ने किया है, उनके 'राजनीति' नामक ग्रन्थ में है, जहाँ वे लिखते हैं, किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए।

(1) शिक्षा के लिए

(2) विरेचन शुद्धि के लिए

(3) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। ....धार्मिक रागों के प्रभाव से-ऐसे रागों के प्रभाव से जो रहस्यात्मक आवेश को उद्‌बोध करते हैं, वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदनशील शक्ति के अनुसार प्रायः सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं। उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचन राग मानव समाज को निर्दोष प्रदान करते हैं।'

यहां भी विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य शुद्धि से है। वह मानते हैं कि यद्यपि शिक्षा से नैतिक रागों को प्रधानता देनी चाहिए, परन्तु आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द लिया जा सकता है क्योंकि करुणा, त्रास अथवा आवेश का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में सभी व्यक्तियों पर होता है। ऐसे संगीत के प्रभाव से विरेचन द्वारा उनका आवेश शान्त हो जाता है। इस विधि से वे अपनी-अपनी संवेदन शक्ति के अनुसार एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, जिससे उनकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है, अतः विरेचन का अर्थ शुद्धि परिष्करण एवं मानसिक स्वास्थ्य है।

विरेचन का अर्थ-अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द 'कैथार्सिस' है हिन्दी में इसका अनुवाद 'रेचन' 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया जाता है, परन्तु विरेचन शब्द सर्वाधिक प्रचलित है, जिस प्रकार कैथार्सिस शब्द यूनानी चिकित्सा पद्धति से सम्बद्ध माना जाता है, उसी प्रकार विरेचन 'शब्द' भारतीय आयुर्वेदिकशास्त्र से सम्बन्धित है। चिकित्साशास्त्र में उसका अर्थ है-रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक एवं अस्वास्थ्य कर पदार्थ (फौरिन मैटर)को बाहर निकालना। वैद्य के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने यह शब्द वैद्यकशास्त्र से ग्रहण किया और काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया, जैसे होमियोपैथी में किसी संवेग की चिकित्सा 'समान' संवेग के द्वारा की जाती है 'सर्वसम' के द्वारा नहीं। अम्ल के लिये अम्लता का और लवण द्रव्य के लिये लवण का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार अरस्तु का मत है कि त्रासदी, करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्वेग द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास भावनाओं का निष्काषण करती है। यह निष्काषण ही वास्तव में 'विरेचन' या उसका कार्य है।

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षण के आकार पर विरेचन के तीन अर्थ किये।

(1) धर्मपरक।

(2) नीतिपरक।

(3) कलापरक।

धर्मपरक अर्थ–यूनान में भी भारत की तरह नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ था। प्रो. मरे का मत है कि वर्ष के प्रारम्भ पर 'दि ओन्यसस' नामक यूनानी देवता से सम्बद्ध उत्सव मनाया जाता था। उस उत्सव में देवता से विनती की जाती थी कि वह प्रशासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मो तथा कालुष्यों से मुक्त कर दें तथा आगामी वर्ष में उन्हें इतना विवेकपूर्ण तथा शुद्ध हृदय बना दे कि वे पाप, कलुष तथा मृत्यु आदि से बचे रहें। इस प्रकार यह उत्सव एक प्रकार से शुद्धि का प्रतीक था। अपने ग्रन्थ 'राजनीति' में अरस्तू ने लिखा है कि हाल की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिये भी यूनान में उद्दाम संगीत का प्रयोग किया जाता था। अंत: स्पष्ट है कि यूनान की धार्मिक संस्थाओं में बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति और उनके शमन का यह उपाय अरस्तू को ज्ञात था और संभव है कि वहाँ से भी उन्हें विरेचन सिद्धान्त की प्रेरणा मिली हो। सारांश यह है कि विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया और उसका अर्थ था बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति। धार्मिक साहित्य एक सीमा तक यह कार्य करता भी है।

नीतिपरक अर्थ–विरेचन सिद्धान्त के नीतिपरक अर्थ की व्याख्या एक जर्मन विद्वान वारनेज ने की। उसके अनुसार मानव मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थिति रहते हैं। इनमें करुणा और त्रास नामक मनोवेग मूलत: दु:खद होते हैं। त्रासदी रंगमंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है, जिसमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, उसमें ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं, जो त्रास और करुणा से भरी होती हैं। प्रेक्षक जब इन दृश्यों को देखता है या उन परिस्थितियों के बीच मानसिक रूप से गुजरता है तो उसके मन में भी त्रास और करुणा के भाव अपार वेग से उद्वेलित होते हैं और तत्पश्चात् उपशमित हो जाते हैं। प्रेक्षक त्रासदी को देखकर मानसिक शान्ति का सुखद अनुभव करता है क्योंकि उसके मन में वासना आदि मनोवेगों का दंश समाप्त हो जाता है। अत: विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ–मनोविकारों के उत्तेजन के

बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक शक्ति और विशदता मिलती है। निश्चय ही ये कार्य भी साहित्य के द्वारा प्रतिपादित होते हैं। अन्य ललित कलाएँ भी यही सब करती हैं।

कलापरक अर्थ–अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के कलापरक अर्थ का संकेत तो गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों ने भी दिया था, परन्तु उसका सर्वाधिक आग्रह के साथ प्रतिपादन करने वाले हैं, प्रोफेसर वूचर। उनका कथन है कि अरस्तू का विरेचन शब्द केवल मनोविज्ञान अथवा चिकित्सा शास्त्र से ही सम्बन्धित नहीं है, कला सिद्धान्त का भी अभिव्यंजक है। यह (विरेचन) केवल मनोविज्ञान अथवा नियम शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला सिद्धान्त का अभिव्यंजक है–त्रासदी का कर्त्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिये अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु उन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है और कला के माध्यम में डालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करता है। प्रोफेसर वूचर विरेचन के चिकित्सा शास्त्रीय अर्थ को ही अरस्तू का एक मात्र आशय नहीं मानते। उनके अनुसार विरेचन का कला परक अर्थ है–पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार। भारतीय रसवादी भी कुछ इसी प्रकार की धारण कलाओं के सम्बन्ध में रखते हैं। व्याख्याओं की समीक्षा–व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत विरेचन के सभी अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत थे अथवा नहीं यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस विषय पर उनकी अपनी व्याख्या अपर्याप्त है। अंत: इस विषय में हम केवल अनुमान या तर्क से काम ले सकते हैं। धार्मिक शुद्धि की ओर तो स्वयं अरस्तू ने भी संकेत किया है साथ ही मानसिक शुद्धि की चर्चा भी उनके राजनीति नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हो रही है, अत: वे इसका नैतिक अर्थ भी करते होंगे। प्रश्न यह है कि क्या वे उसका कलापरक अर्थ भी ग्रहण करते थे? हमारा मत है कि धर्मपरक, नीतिपरक तथा कलापरक तीनों अर्थों में सत्य का अंश वर्तमान है। यद्यपि प्रोफेसर बूचर ने जिस कलात्मक परितोष की बात कही है, उसका अरस्तू ने कोई संकेत नहीं दिया है तथापि कलात्मक अर्थ भी अरस्तू को थोड़ा बहुत अवश्य अभीष्ट था। उनके अनुकरण सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यहाँ इस अर्थ के प्रयोजन होने की बात भी स्वीकार की जा सकती है। प्रोफेसर मरे ने यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ विरेचन सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने विरेचन की धर्मपरक व्याख्या की है।

इसी प्रकार फ्रायड, एडलर तथा युंग आदि ने नीतिपरक व्याख्या की है। प्रो. वूचर ने ही कलापरक व्याख्या की है। उनका कहना है कि अरस्तू का अभीष्ट केवल मन को सामंजस्य, जन्य विशदता और भावनाओं की शुद्धि का था। कला जन्य अस्वाद अरस्तू के

विरेचन की परिधि के बाहर की बात है। वे कहते हैं-विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य था।...परन्तु विरेचन में कलावाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अंत: विवेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्याय संगत नहीं है। इस प्रकार अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। उनके अनुसार त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव है। त्रासदी में मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटता नष्ट हो जाती है और प्रेक्षक मन:शक्ति का उपयोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है। अरस्तू को विरेचन से इतना ही अभिप्रेत था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तू के दो ही प्रमुख काव्य सिद्धान्त थे एक था। अनुकरण सिद्धान्त और दूसरा विरेचन सिद्धान्त।

परिचय

'विरेचन' यूनानी कथार्सिस (Katharsis) का हिन्दी रूपान्तर है। यूनानी चिकित्साशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है- 'कैथार्सिस' और भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) का पारिभाषिक शब्द है- 'विरेचन'। इसका अर्थ है- रोचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों अर्थात् उदर के विकारों की शुद्धि। स्वास्थ्य के लिए जिस प्रकार शारीरिक मल का निष्कासन-शोधन आवश्यक है, उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और क्रोध आदि मानसिक मलों का निष्कासन एवं शोधन आवश्यक है।

अरस्तू ने 'कैथार्सिस' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मानव-मन पर पड़नेवाली त्रासदी के प्रभाव का उद्घाटन करने के लिए किया है। त्रासदी के प्रति प्लेटो की आपत्ति थी- ''वह (त्रासदी) मानव की वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है। वह उच्चतर तत्त्वों के बदले निम्नतर तत्त्वों को उभारकर आत्मा में अराजकता उत्पन्न करती है।''

अरस्तू ने कैथार्सिस (विरेचन) सिद्धान्त द्वारा प्लेटो के इस आक्षेप का खण्डनकर त्रासदी की उपादेयता स्थापित की। प्लेटो ने जिसे दोष सिद्ध किया था, अरस्तू ने उसी को गुण के रूप में प्रस्तुत किया। अरस्तू का अभिमत है-

अर्थात् त्रासदी किसी गम्भीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है।... जिसके करुणा त्रास से उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।

इसी प्रकार त्रासदी केवल अवांछनीय भावनाओं को ही उद्दीप्त नहीं करती, अपितु करुणा और त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास की भावनाओं का निष्कासन करती है।

विरेचन का स्वरूप

विरेचन का उल्लेख अरस्तू की रचनाओं में केवल दो स्थानों पर मिलता है। प्रथम उल्लेख उसके 'पोयटिक्स' (काव्यशास्त्र) ग्रंथ में, जहाँ ट्रैजेडी के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है और दूसरा 'राजनीतिक' नामक ग्रंथ में जहाँ उन्होंने संगीत की उपयोगिता प्रतिपादित की है। इन स्थलों पर उन्होंने विरेचन शब्द का सूत्र रूप में एवं उसके स्वरूप की चर्चा की है। अरस्तू का कथन है– ''संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए, अर्थात् शिक्षा के लिए विरेचन (शुद्धि) के लिए। संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। ..... धार्मिक रागों के प्रभाव से वे शान्त हो जाते हैं, मानों उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो।

इस प्रकार विरेचन से अभिप्राय शुद्धि से है। अरस्तू के ये विचार त्रासदी-विवेचन के सन्दर्भ में फुटकर रूप में मिलते हैं। विशेष सुव्यवस्थितरूप से इनका सम्पादन नहीं किया गया है।

आधुनिक युग में अरस्तू के सीमित और अल्प शब्दों ने पूर्ण काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। अत: एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठा कि करुणा और त्रास के उद्रेक तथा रेचन से अरस्तू का मूलत: क्या अभिप्राय था? इस सन्दर्भ में अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने विरेचन के भिन्न-भिन्न अर्थ और व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं–

धर्मपरक अर्थ

अरस्तू के व्याख्याकारों में प्रो. गिल्बर्ट मरे और लिवि ने विरेचन की धर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्मपरक अर्थ की एक विशेष पृष्ठभूमि है। इसका सम्बन्ध धार्मिक उत्सवों से है। प्रो. गिल्बर्ट मरे का कथन है कि – ''यूनान में दिओन्यूसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार

की शुद्धि का प्रतीक था, जिसमें विगत् समय के कलुष और पाप एवं मृत्यु-संसर्गों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार बाह्य विकारों द्वारा आन्तरिक विकारों की शन्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक संस्थाओं में काफी प्रचलित था। उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है और विरेचन का अर्थ हुआ- ''बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।''

कलापरक अर्थ

गेटे और अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों में विरेचन के कलापरक अर्थ के संकेत मिलते हैं। अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो. बूचर का अभिमत है कि विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यंजक है। इस प्रकार त्रासदी का कर्त्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना ही नहीं अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत और स्पष्ट करना है। विरेचन का अर्थ यहाँ व्यापक है- मानसिक संतुलन इसका पूर्व भाग मात्र है, परिणति उसकी कलात्मक परितोष का परिष्कार ही है, जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता।

प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त तीनों अर्थों में से कौन सा अर्थ अरस्तू के मत के सर्वाधिक निकट है? यद्यपि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों से अरस्तू का प्रभावित होना स्वाभाविक है और स्वयं धार्मिक संगीत की ओर अरस्तू ने संकेत भी किया है कि जिस प्रकार धार्मिक संगीत श्रोताओं के भावों को उत्तेजित कर फिर शान्त करता है, उसी प्रकार त्रासदी प्रेक्षक के भय ओर करुणा के भावों को जगाकर बाद में उन्हें उपसमित करती है। त्रासदी के सम्बन्ध में यह मत अक्षरशः ठीक नहीं है, क्योंकि संगीत द्वारा ठीक किए जानेवाले व्यक्ति पहले ही भावाक्रान्त होते थे, जबकि प्रेक्षागृह में जानेवाले व्यक्ति करुणा या भय की मानसिक स्थिति में नहीं होते। अतः विरेचन सिद्धान्त की प्रकल्पना पर उक्त प्रथा का प्रभाव अप्रत्यक्ष तो माना जा सकता है, किन्तु सीधा सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

जहाँ तक नीतिपरक अर्थ की बात है, मनोविज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है। विरेचन से अरस्तू के तात्पर्य भावों का निष्कासन मात्र नहीं, वरन् उनका संतुलन भी है।

इसी प्रकार प्रो. बूचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष है- एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। अभावात्मक पक्ष यह है कि वह पहले मनोवेगों को उत्तेजित करें, तदुपरान्त उनका शमनकर मन:शांति प्रदान करे। इसके बाद सम्पन्न कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। विरेचन को भावात्मक रूप देना उचित नहीं है। अरस्तू का अभीष्ट केवल मन का सामंजस्य और तज्जन्य विमदता तक ही है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने 'अन्तवृत्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादन किया है।

डॉ. नगेन्द्र का मत है कि ''विरेचन कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है- समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्यायसंगत नहीं है।''

आधुनिकतम मत

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार त्रास और करुणा की भावनाएँ अपने प्रकृत रूप में अधिक कष्टप्रद बनकर प्रकट होती है। त्रासदी के प्रेक्षणा के फलस्वरूप वे अपने अनुग्र एवं अनापत्तिजनक रूप को प्रकाशित करती है। इस रूप में वे निवैयक्तिक एवं सार्वभौम रूप में सामने आती हैं। इससे विरेचन और साधारणीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज ही देखा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या त्रासदी के प्रभाव या प्रयोजन को समझने के लिए विरेचन सिद्धान्त ही एकमात्र समीचीन माध्यम है? वस्तुत: त्रासदी के कार्य को रेचन तक सीमित कर देना उसके उद्देश्य को संकीर्ण बनाने जैसा है। इसके विपरीत भाववादी समीक्षकों ने विरेचन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बनाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विरेचन से अवांछनीय भावनाओं में भी परिवर्तन होता है और उनका अतिरेक मिटता है। इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिपादन ड्राइडन, एडीसन आदि विद्वानों ने किया।

आक्षेप और समाधान

कुछ विद्वान विरेचन प्रक्रिया के अस्तित्व के बारे में शंका करते हैं। उनका आक्षेप है कि वास्तविक जीवन में ऐसा विरेचन नहीं होता है। त्रासदी से करुणादि मनोवेग उद्‌बुद्ध तो हो जाते है, परन्तु उनके विरेचन से मन: शान्ति सर्वथा नहीं होती। वास्तव में त्रासदी का चमत्कार मूलत: रागात्मक होता है। वह विरेचन-प्रक्रिया

द्वारा भावों को उद्‌बुद्ध करती है, उनका समंजन करती है और इस प्रकार आनन्द की भूमिका प्रस्तुत करती है। यह विरेचन सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण देन है। दूसरा आक्षेप यह है कि त्रासदी में प्रदर्शित भाग अवास्तविक होते हैं, अतः वे हमारे भावों को उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते, विरेचन की तो बात ही नहीं। वस्तुतः यह मत भी उचित नहीं है। त्रासदी द्वारा भावोद्रेक निश्चय ही कला-चमत्कार का प्रतिफल नहीं, रागात्मक प्रभाव की परिणति है। सारभूत समंजनकारी प्रभाव ही उसकी सफलता का कारण है। अतः आक्षेप सर्वथा निर्मूल है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार

मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार भावनाओं की अतृप्ति या दमन मानसिक रोगों का प्रमुख कारण है। इनका विचार भावों की उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा हो सकता है। अचेतन मन में पड़े भाव उचित अभिव्यक्ति के अभाव में मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देते हैं। इन ग्रंथियों को चेतन स्तर पर लाकर मन की घुटन और अतृप्ति को दूर किया जाता है। इससे मन का तनाव दूर हो जाता है और चित्त एक प्रकार की विशदता एवं हल्कापन अनुभव करता है। मनोविश्लेषण शास्त्र की उन्मुक्त विचार-प्रवाह-प्रणाली का आधार यही प्रक्रिया है। इस दृष्टि से विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है। फ्रायड आदि विद्वानों ने अनेक स्थलों पर अरस्तू वाक्यों को अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

विरेचन और करुण रस

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रासदी के प्रभाव का भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग है- करुणा और त्रास। ये दोनों भाव मूलतः दुःखद हैं। उधर करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। भारतीय काव्यशास्त्र 'शोक' स्थायी भाव के अन्तर्गत करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्ट नाश या विपत्ति शोक के कारण हैं। इनसे करुणा और त्रास दोनों की उद्‌भूति होती है। विपत्ति के साक्षात्कार से करुणा की, वैसी ही विपत्ति की पुनरावृत्ति की आशंका से त्रास की अनुभूति होती है। किन्तु भारतीय आचार्यों और अरस्तू के दृष्टिकोण में प्रमुख अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक मिश्र भाव है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलतः अमिश्र है, जैसे - सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नहीं है, जबकि अरस्तू की दृष्टि में त्रासहीन करुण प्रसंग आदर्श स्थिति नहीं है।

अरस्तू ने 'विरेचन' शब्द का प्रयोग अपने काव्यशास्त्र के छठे अनुच्छेद के आरम्भ में त्रासदी की परिभाषा देते हुए, केवल एक बार किया है–''त्रासदी किसी गंभीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।'' अरस्तू ने न तो 'विरेचन सिद्धांत' की कोई परिभाषा दी, न ही उसकी व्याख्या की. 'विरेचन' का यूनानी अर्थ 'कैथार्सिस' है।

अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त शब्द कैथार्सिस की मूल धातु कैथारिओं का अर्थ है सफाई करना या अशुद्धियों को दूर करना, अत: कैथार्सिस का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ शुद्धिकरण। अरस्तू ने 'विरेचन' शब्द का ग्रहण चिकित्साशास्त्र से किया था, इस मत का प्रचार सन् 1857 में जर्मन विद्वान बार्नेज के एक निबंध से हुआ, और तदुपरांत इस प्राय: स्वीकार किया जाने लगा। इन अनुमान के दो कारण थे:- (1) अरस्तू स्वयं वैध पुत्र थे और (2) उनके पूर्व प्लेटो या किसी अन्य विचारक ने साहित्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

चिकित्साशास्त्र में इस शब्द का अर्थ था रोचक औषधि द्वारा उदारगत विकारों का निदान, अस्वास्थ्यकर पदार्थों का बहिष्कार कर शरीर को स्वस्थ करना। सम्भावना यही है कि प्लेटो के काव्य प्रभाव सम्बन्धी आक्षेपों का उत्तर देने के लिए अरस्तु ने चिकित्साशास्त्र से इस शब्द को ग्रहण कर त्रासदी के प्रसंग में इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया।

5

स्वच्छन्दतावाद

स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) कला, साहित्य तथा बौद्धिक क्षेत्र का एक आन्दोलन था, जो यूरोप में अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में आरम्भ हुआ। 1800 से 1850 तक के काल में यह आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था।

अट्ठारहवीं सदी से आज तक दर्शन, राजनीति, कला, साहित्य और संगीत को गहराई से प्रभावित करने वाले वैचारिक रुझान स्वच्छंदतावाद को एक या दो पंक्तियों में परिभाषित करना मुश्किल है। कुछ मानवीय प्रवृत्तियों का पूरी तरह से निषेध और कुछ को बेहद प्राथमिकता देने वाला यह विचार निर्गुण के ऊपर सगुण, अमूर्त के ऊपर मूर्त, सीमित के ऊपर असीमित, समरूपता के ऊपर विविधता, संस्कृति के ऊपर प्रकृति, यांत्रिक के ऊपर आंगिक, भौतिक और स्पष्ट के ऊपर आध्यात्मिक और रहस्यमय, वस्तुनिष्ठता के ऊपर आत्मनिष्ठता, बंधन के ऊपर स्वतंत्रता, औसत के ऊपर विलक्षण, दुनियादार किस्म की नेकी के ऊपर उन्मुक्त सृजनशील प्रतिभा और समग्र मानवता के ऊपर विशिष्ट समुदाय या राष्ट्र को तरजीह देता है। सामंती जकड़बंदी का मूलोच्छेद कर देने वाले फ्रांसीसी क्रांति जैसे घटनाक्रम के पीछे भी स्वच्छंदतावादी प्रेरणाएँ ही थीं। फ्रांसीसी क्रांति का युगप्रवर्तक नारा 'समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' लम्बे अरसे तक स्वच्छंदतावादियों का प्रेरणा-स्रोत बना रहा।

इस क्रांति के बौद्धिक नायक ज्याँ-जाक रूसो को स्वच्छंदतावादी चिंतन की शुरुआत का श्रेय दिया जाता है। रूसो ने अपने जमाने की सभ्यतामूलक

उपलब्धियों पर आरोप लगाया था कि उनकी वजह से मानवता भ्रष्ट हो रही है। उनका विचार था कि अगर नेकी की दुनिया में लौटना है और भ्रष्टाचार से मुक्त जीवन की खोज करनी है तो प्रकृत- अवस्था की शरण में जाना होगा। 1761 में प्रकाशित रूसो की दीर्घ औपन्यासिक कृति ज्यूली ऑर द न्यू हेलोइस और अपने ही जीवन का अनूठा अन्वेषण करने वाली उनकी आत्मकथा कनफेशंस इस महान विचारक के स्वच्छंदतावादी नजरिये का उदाहरण है। प्रेम संबंधों पर आधारित भावनाप्रवण कहानी ज्यूली ने युरोपीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद के परवर्ती विकास के लिए आधार का काम किया। अंग्रेजी भाषा में स्वच्छंदतावाद का साहित्यिक आंदोलन विकसित हुआ, जिसके प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में ब्लैक, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, बायरन, शैली और कीट्स के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वच्छंदतावाद के ही प्रभाव में जर्मन दार्शनिक हर्डर ने अपने विशिष्ट रोमांटिक नैशनलिज्यम की संकल्पना की। यही प्रेरणाएँ हर्डर को गैर-युरोपीय संस्कृतियों की तरफ ले गयीं और उन्होंने उन्हें युरोपीय सभ्यता की आदिम प्राक्-अवस्थाओं के बजाय अपनी विशिष्ट निजता, वैधता और तात्पर्यों से सम्पन्न संरचनाओं के रूप में देखा। जर्मन दार्शनिकों में आर्थर शॉपेनहॉर को स्वच्छंदतावाद की श्रेणी में रखा जाता है। उन्होंने कांट के बुद्धिवादी नीतिशास्त्र को नजरअंदाज करते हुए उनकी ज्ञान-मीमांसा और सौंदर्यशास्त्र संबंधी विमर्श की पुनर्व्याख्या की। शॉपेनहाउर का लेखन जगत के प्रति निरुत्साह और हताशा से भरा हुआ है, पर उन्हें अभिलाषाओं के संसार में राहत मिलती है। शॉपेनहॉर का लेखन दर्शन रिचर्ड वागनर की संगीत-रचनाओं के लिए प्रेरक साबित हुआ। भारत में स्वच्छंदतावाद की पहली साहित्यिक अनुगूँज बांग्ला में सुनायी पड़ी। आधुनिक हिंदी साहित्य में स्वच्छंदतावाद की पहली सुसंगत अभिव्यक्ति छायावाद के रूप में मानी जाती है।

अपने प्रभावशाली राजनीतिक और दार्शनिक तात्पर्यों के अलावा स्वच्छंदतावाद की एक बहुत बड़ी उपलब्धि क्लासिकल भाषाओं को रचनाशीलता के केंद्र से विस्थापित करके जनप्रिय भाषाओं में लेखन की शुरुआत करने से जुड़ी है। एक जमाने में केवल लैटिन में ही लेखन होता था, उसी के पाठक और प्रकाशक थे। लेकिन स्वच्छंदतावाद ने इस परम्परा का उल्लंघन करने की जमीन बनायी और पहले फ्रांसीसी और फिर अंग्रेजी में लेखन करने का आग्रह बलवती हुआ। स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने मनोभावों पर नये सिरे से जोर दे कर रचनाशीलता में क्लासिकीय अभिजनोन्मुखता को झटक दिया। इसका नतीजा केवल रोमानी

प्रेम पर आधारित विषय-वस्तुओं में ही नहीं निकला, बल्कि साहित्य और कला ने मन के अँधेरों में छिपे भयों और दु:खों की अनुभूति को भी स्पर्श करना शुरू कर दिया।

स्वच्छंदतावाद की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि युरोपीय ज्ञानोदय द्वारा आरोपित बुद्धिवाद के खिलाफ विद्रोह के रूप में देखी जाती है। ज्ञानोदय के विचारक प्रकृति को तर्क-बुद्धि और व्यवस्थामूलक क्रम के उद्‌गम के तौर पर देखते थे। न्यूटन द्वारा प्रवर्तित मैकेनिक्स इसी की चरम अभिव्यक्ति है। लेकिन स्वच्छंदतावादियों ने प्रकृति को आंगिक विकास और विविधता के स्रोत के रूप में ग्रहण किया। वे प्राकृतिक और अलौकिक को अलग-अलग मानने के लिए तैयार नहीं थे। पार्थिव और अपार्थिव के द्विभाजन को नकारते हुए उन्होंने-उसे एक- दूसरे से गुँथे हुए की संज्ञा दी। ज्ञानोदय के विचार के लिए स्वच्छंदतावादियों का यह रवैया काफी समस्याग्रस्त था। वे प्रकृति को भावप्रवण और आध्यात्मिक शक्ति के आदिम प्रवाह के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। स्वच्छंदतावादियों ने क्लासिकल द्वारा रोमन और यूनानी मिथकों पर जोर को नकारते हुए मध्ययुगीन और पागान सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को अपनाया। इसका नतीजा गोथिक स्थापत्य के पुनरुद्धार में निकला। स्वच्छंदतावाद ने युरोपीय लोक-संस्कृति और कला के महत्त्व को स्वीकारा। फिनलैण्ड के महाकाव्यात्मक ग्रंथ कालेवाला का सृजन इसी रुझान की देन है।

स्वच्छंदतावाद के विकास में फ्रेड्रिख और ऑगस्त विल्हेम वॉन श्लेगल की भूमिका उल्लेखनीय है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के संधिकाल पर सक्रिय इन विचारकों का कहना था कि रोमानी साहित्य और कला का स्वभाव तरल और खण्डित है। इसलिए सुसंगित और सम्पूर्णता प्राप्त करने की वह महत्त्वाकांक्षा उसमें नहीं होती, जो क्लासिकल साहित्य और कला का मुख्य लक्षण है। जो रोमानी है वह व्याख्या की समस्याओं से ग्रस्त रहेगा ही। श्लेगल के अनुसार कला-कृतियाँ इसीलिए समझ के धरातल पर सौ फीसदी बोधगम्य होने से इनकार करती है। अगस्त श्लेगल ने रोमानी विडम्बना की थीसिस का प्रतिपादन करते हुए कविता की विरोधाभासी प्रकृति को रेखांकित किया। इसका मतलब यह था कि किसी वस्तुनिष्ठ या सुनिश्चित तात्पर्य की उपलब्धि न कराना कविता का स्वभाव है। स्वच्छंदतावादियों ने शेक्सपियर की सराहना इसलिए की कि उनमें अपने नाटकों के पात्रों के प्रति एक विडम्बनात्मक विरक्ति है। इसीलिए वे अंतर्विरोधी स्थितियों और मुद्राओं के सफल चितेरे बन

पाये हैं और इसीलिए उनके नाटक किसी एक दृष्टिकोण के पक्ष में उपसंहार नहीं करते।

हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रभाव बीसवीं सदी के दूसरे दशक में छायावादी कविता के रूप में सामने आया। हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली के रचनाकार डॉ. अमरनाथ के अनुसार हिंदी में स्वच्छंदतावाद का जिक्र सबसे पहले रामचंद्र शुक्ल के विख्यात ग्रंथ हिंदी साहित्य का इतिहास में मिलता है, जहाँ उन्होंने श्रीधर पाठक को स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक करार दिया है। अमरनाथ के अनुसार छायावाद और स्वच्छंदतावाद में गहरा साम्य है। दोनों में प्रकृति-प्रेम, मानवीय दृष्टिकोण, आत्माभिव्यंजना, रहस्यभावना, वैयक्तिक प्रेमाभिव्यक्ति, प्राचीन संस्कृति के प्रति व्यामोह, प्रतीक-योजना, निराशा, पलायन, अहं के उदात्तीकरण आदि के दर्शन होते हैं।

परिचय

स्वछंदतावाद या रोमानी काल एक जटिल, साहित्यिक और बौद्धिक आन्दोलन है, जो 18वीं शताब्दी के दूसरे उत्तरार्ध में यूरोप में शुरू हुआ और औद्योगिक क्रांति की प्रतिक्रिया के रूप में और अधिक सशक्त हुआ, कई मायनों में यह अभिजातीय सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों के ज्ञानोदय काल के विरुद्ध एक विद्रोह था और प्रकृति के वैज्ञानिक परिमेयकरण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया और यह सर्वाधिक सशक्त रूप से दृश्य कलाओं, संगीत और साहित्य में अभिव्यक्त हुआ, किन्तु इसका अत्यधिक प्रभाव इतिहास लेखों , शिक्षा और प्राकृतिक इतिहास पर पड़ा।

इस आन्दोलन ने प्रबल भावनाओं को सौंदर्यपरक अनुभव के वास्तविक स्रोत के रूप में मान्यता दिलायी, जिसमें घबराहट, भय एवम् आतंक और विस्मय आदि भावनाओं पर नवीन बल दिया गया- विशेषकर वह भावनाएं जिसका अनुभव स्वतंत्र प्रकृति व इसके मनोहर गुणों की उदात्तता के सम्मुख होता है, जो कि दोनों ही नवीन सौन्दर्यबोधक श्रेणियां हैं। इसने लोक कला और कुछ उत्तम करने की प्राचीन रीति, जो कि सहजता के ऐच्छिक गुण से युक्त है (जैसा कि तात्कालिक संगीत में होता है) को आगे बढ़ाया और प्रकृति द्वारा भाषा अवं प्रचलित प्रयोगों के रूप में अनुकूलित मानव गतिविधियों की एक 'प्राकृतिक' ज्ञान मीमांसा के पक्ष में तर्क किया।

पुनर्जीवित मध्यकालवाद और कला एवं इतिहास के तत्वों, जो कि प्रमाणिक रूप से मध्ययुगीन माने जाते हैं, के स्तर को ऊपर उठाने के लिए स्वछंदतावाद, तर्कवाद एवं पुरातनवाद के आदर्श प्रतिदर्शों से भी आगे चला गया, जनसँख्या वृद्धि, शहरी अव्यवस्था और उद्योगवाद की परिसीमाओं से बचने के प्रयास में और इसने पलायन करने और आगे की कल्पना करने के लिए अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करते हुए, विदेशागत, अपरिचित और माध्यम की दृष्टि से दूरस्थ तथा रोकोको चिनोयिसेरी से भी अधिक प्रमाणिक स्त्रोतों का स्वागत किया।

एक रोमानी चरित्र का आधुनिक पर्याय बायरन के गुणवान, या शायद गलत समझ लिए गए एकांकी व्यक्ति, की कल्पना के अनुसार व्यक्त किया जा सकता है, जो कि तात्कालिक समाज के रीति-रिवाज की जगह अपनी रचनात्मक प्रेरणाओं के आदेश को सुनता है।

हालाँकि इस आन्दोलन की जड़ें जर्मन आन्दोलन स्टर्म एंड ड्रेंग से विकसित हैं, जो सहज ज्ञान और भावनाओं को ज्ञानोदय परिमेयकरण से बहमूल्य मानता है, फ्रांसिसी क्रांति ने उन आदर्शों और घटनाओं की नीव रखी, जिससे स्वछंदतावाद और प्रति-ज्ञानोदय के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। औद्योगिक क्रांति की परिसीमाओं का भी स्वछंदतावाद पर प्रभाव पड़ा, जो एक प्रकार से आधुनिक वास्तविकताओं से पलायन थाय वास्तव में, 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'यथार्थवाद' को स्वछंदतावाद के ध्रुवीय विपरीत के रूप में प्रस्तुत किया गया . स्वछंदतावाद ने उन्ही की उपलब्धियों को आगे बढ़ाया जिन्हें स्वछंदतावाद में वीर व्यक्तिवादी और कलाकार समझा जाता है, जिनका अग्रणी उदहारण समाज के स्तर को उठाने में सहायक होगा। इसने व्यक्ति विशेष की कल्पना को एक ऐसे विशिष्ट प्रभाव के रूप में वैधता प्रदान की, जिसने कला में प्राचीन रूप के विचारों के भावों से मुक्ति की आज्ञा दे दी। वह ऐतिहासिक और प्राकृतिक अनिवार्यता का एक सशक्त अवलम्ब था और अपने विचारों के प्रतिनिधित्व में एक युगचेतना।

अभिलक्षण

बुनियादी रूप से, शब्द 'स्वछंदतावाद' 18 वीं शताब्दी के अंत के और 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ के कुछ विशिष्ट कलाकारों, कवियों, लेखकों, संगीतकारों और साथ ही साथ राजनीतिक, दार्शनिक और सामाजिक विचारकों

के लिए प्रयोग किया जाता था। इसका प्रयोग सामान रूप से उस युग के अनेकों कला संबंधी, बौद्धिक और सामाजिक चलनों के लिए भी किया जाता था। इस शब्द के ऐसे सामान्य प्रयोगों के बाद भी स्वछंदतावाद का संक्षिप्त वर्णन पूरी 20 वीं शताब्दी के दौरान बौद्धिक इतिहास एवम साहित्यिक इतिहास के क्षत्रों में विवाद का विषय रहा है और इस पर सहमति के लिए कोई विशेष उपाय प्राप्त नहीं किया जा सका। आर्थर लवजॉय ने अपने हिस्ट्री ऑफ आइडियास (1948) के निबंधों के मौलिक लेख 'ऑन द डिस्क्रिमिनेशन ऑफ रोमैंटिसिज्म' में इस समस्या की जटिलता को व्यक्त करने का प्रयास किया है, कुछ विद्वान स्वछंदतावाद को वर्तमान के साथ अनिवार्य रूप से सतत मानते हैं, कुछ इसमें आधुनिकता के प्रारंभिक लक्षणों को देखते हैं, कुछ इसे ज्ञानोदय तर्कवाद–ज्ञानोदय का विपरीत, के विरोध की परंपरा के शुरुआत के रूप में देखते हैं और फिर भी कुछ अन्य इसे फ्रांसिसी क्रांति के सीधे परिणाम के रूप में देखते हैं। एक प्रारंभिक परिभाषा जो कि चार्ल्स बौडलैयेर द्वारा दी गयी थी: 'संक्षिप्त रूप से स्वछंदतावाद न तो विषय के चुनाव में और न ही वास्तविक सत्य में स्थित है, अपितु यह तो अनुभव का एक तरीका है'

कई बुद्धिजीवी इतिहासकार स्वछंदतावाद को प्रति ज्ञानोदय के मुख्य आन्दोलन के रूप में देखते हैं, जो कि ज्ञानोदय काल के विरोध में एक प्रतिक्रिया है, जबकि ज्ञानोदय के विचारकों ने निगमनात्मक कारणों की श्रेष्ठता पर बल दिया, स्वछंदतावाद ने अनुभव, कल्पना और भावनाओं पर इस सीमा तक बल दिया कि इसके कुछ विचारकों पर अतार्किक होने का आरोप भी लगाया गया।

स्वच्छंदतावाद और संगीत

लुडविग वैन बीथोवेन

हालाँकि जब शब्द 'स्वछंदतावाद' का प्रयोग संगीत के सम्बन्ध में किया गया, वह समय तकरीबन 1820 से 1900 का था, संगीत के लिए 'रोमानी' शब्द का समकालीन प्रयोग इस आधुनिक स्पष्टीकरण से मेल नहीं खाता था। 1810 में ई.टी.ऐ. हॉफमैन ने मोजार्ट, हेडेन और बीथोवेन को तीन 'रोमानी संगीतकार' का नाम दिया और लुडविग स्फोर ने 'अच्छी रोमानी शैली' शब्दों का प्रयोग बीथोवेन की पांचवी सैम्फनी (एक प्रकार की संगीत रचना) के कुछ भागों के लिए किया। वास्तविकता में मोजार्ट और हेडेन प्राचीन संगीतकार माने जाते हैं और अधिकांश तथ्यों के आधार पर बीथोवेन संगीतमय रोमानी युग की शुरुआत का प्रतिनिधित्व करते हैं। लगभग 19 वीं शताब्दी की शुरुआत से, संगीत के

अतीत में एक नियोजित अंतराल के विचार के परिणामस्वरूप 19 वीं शताब्दी को 'रोमानी काल' के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया और संगीत के स्तरीय विश्वकोषों में भी इसके लिए इन्ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

स्वछंदतावाद के संगीत से सम्बंधित पारंपरिक आधुनिक विवादों में लोक संगीत का बढ़ता हुआ प्रचलन, जैसे–तत्त्व सम्मिलित हैं, जो कि कला के क्षेत्र में रोमानी राष्ट्रवाद के व्यापक वर्तमान से भी सीधे जुड़े हुए हैं और साथ ही साथ 18 वीं शताब्दी के संगीत में पहले से ही उपस्थित दृष्टिकोण जैसे कैंटाबिल युक्त धुन , जिस पर फैन शुबर्ट से लेकर अन्य रोमानी संगीतकारों ने सुरों का उतार चढ़ाव का प्रयोग किया है।

निकोलो पेगेनिनी

स्टर्म एंड ड्रेंग ('स्टार्म एंड स्ट्रेस' के लिए जर्मन शब्द) की अत्यधिक विपरीतता और भावुकता या फ्रांसिसी क्रांति के काल के गीतिनाट्यों के कुछ आशापूर्ण तत्व, साहित्य में गॉथिक उपन्यास की पूर्व सूचना प्रतीत होते है। मोजार्ट के भावपूर्ण संगीत के लिए लौरेंजो दा पोंटे का संगीतिका पाठ्य विशिष्ट और व्यक्तित्व की एक नयी भावना प्रेषित करता है। रोमानी पीढ़ी बीथोवेन को अपने नायक कलाकार के आदर्श के रूप में देखती थी – एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले अपनी एक सैम्फनी कंसल बोनापार्ट को स्वतंत्रता के विजेता के रूप में समर्पित कर दी और सम्राट नेपोलियन को एरौईका सैम्फनी का समर्पण न देकर उनको चुनौती दी। बीथोवेन ने फिदेलियो में उस स्वतंत्रता के स्तुति गीत के लिए श्रेस्क्यू ओपेराश्का गुणगान किया है, जो वियेना की कोंग्रेस के बाद अनेकों आशापूर्ण वर्षों के दौरान सभी उग्र सुधारवादी कलाकारों के विचार में निहित थी और जो क्रांति के दौरान फ्रांसिसी संगीत संस्कृति का एक अन्य लक्षण भी थी।

फ्रेडरिक चोपिन

समकालीन संगीत संस्कृति में, रोमानी संगीतकारों ने प्राचीन संगीतकारों के विपरीत विशिष्ट संरक्षकों के स्थान पर संवेदनशील मध्यमवर्ग के दर्शकों को ध्यान में रखते हुए संगीत को जन संबंधी व्यवसाय के रूप में चुना। सार्वजनिक छवि ने गुणी कलाकारों की नयी पीढ़ी का चरित्रण किया, जिन्होंने एकल कलाकारों के रूप में अपनी पहचान बनायी और पेगानिनी एवम कार्यकर्मो के भ्रमण के दौरान विशेष पहचान प्राप्त की।

बीथोवेन द्वारा स्वरयुक्त संरचना का ऐसा प्रयोग जो संगीत के स्वरूपों और संरचनाओं को महत्त्वपूर्ण विस्तार की अनुमति देता हो, को अविलम्ब संगीत को एक नया आयाम प्रदान करने के रूप में पहचान लिया गया। इसके बाद उनके द्वारा दिए गए पियानो संगीत और स्ट्रिंग क्वाट्रेट्स ने विशेष रूप से एक पूर्णतया अज्ञात संगीत जगत का रास्ता दिखाया. ई.टी.ए. हॉफमैन अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में वाद्य संगीत की कंठ संगीत के ऊपर श्रेष्ठता के विषय पर लिखने में समर्थ थे, इससे पूर्व इस सिद्धांत को व्यर्थ ही माना जाता था। हॉफमैन ने स्वयं, जो कि संगीत और साहित्य दोनों में ही अभ्यासरत थे, संगीत को 'क्रमादेशिक' या विवरणात्मक, भाव के रूप में प्रोत्साहित किया, यह विचार नए दर्शकों को अत्यंत आकर्षक लगा। 19 वीं शताब्दी में वाद्य यंत्रों की तकनीक में विकास हुआ- पियानो के लिए लोहे के ढांचे बनने लगे, तार युक्त वाद्यों के लिए धातु के तार आदि बनने से- उच्च स्वर के संगीत, विभिन्न गुणों युक्त स्वर और भिन्न प्रकार के स्वर भावों और संवेदनात्मक कला-कौशल को प्रोत्साहन मिला। इन विकासों के द्वारा प्रयासों को और बल मिला, क्रमदेशिक शीर्षकों का चलन शुरू हो गया और नयी शालियों जैसे मुक्त-प्रत्यक्ष प्रारंभिक गीत कार्यक्रम या स्वर कविता, पियानो फेंटासिया, निशा संगीत और चारण गीत और प्रवीण संगीत रचना आदि की रचना हुई, जो संगीतमय स्वछंदतावाद के केंद्र बन गये।

रिचर्ड वैग्नर

ओपेरा में अलौकिक भय और अतिनाटकीय कथानक का लोक कथा सम्बंधित प्रसंग में संयोजन से एक नए रोमानी वातावरण की रचना हुई और इसकी प्रथम सफलता का श्रेय वेबर के डेर फ्रैशुज (1817, पुनर्संस्करण 1821) को जाता है। फ्रांस में हेक्टर बर्लियोज और मेयेबियर के ग्रैंड ओपेरा के प्रारंभिक आयोजन में आभिषित स्वर विशेष तौर पर रंगों की प्रमुखता रही। उग्र सुधारवादियों में जों 'भविष्य का कलाकार' के रूप में हास्यपूर्वक चरित्रित हो गया (स्वयं वैगनर के शब्दों में), लिज्त और वैगनर दोनों ही मुक्त, प्रेरित, करिश्माई और शायद निर्दयतापूर्वक अपरम्परागत कलात्मक व्यक्तित्व वाले लोगों के लिए रोमानी मत के प्रतिमान थे।

फ्रांज लिज्त

रोमानी काल के नृत्य नाटकों ने स्वयं को ओपेरा, जिसमें मात्र पैरिस में ही मध्यांतर के दौरान बैले प्रस्तुति का चलन शेष था और कोर्ट फेते से मुक्त

कर लिया था और स्वतंत्र रूप से ओपेरा के विकास को स्पष्ट वर्णनात्मक संगीतिका पाठ के सामानांतर स्थापित किया, दुर्भाग्य पूर्ण युवा प्रेम या अविवेक की सार्वभौमिक उपस्थिति को मूकाभिनय के लम्बे गद्यों में व्यक्त किया, बैले नर्तकी के प्रभुत्व और अलौकिक विषयों: जिसेल (1841) के चुनाव अब तक के प्रमुख उदहारण रहे हैं।

संगीत में 1815 से 1848 तक के समय को वास्तव में स्वछंदतावाद का विशुद्ध समय कहा जा सकता है- बीथोवेन (डी. 1827) और शुबर्ट (डी. 1828), की आखिरी संगीत रचना का समय और शुमन (डी. 1856) आर चोपिन (डी. 1849) के कार्यों, बर्लियाज और रिचर्ड वैगनर के प्रारंभिक संघर्ष का समय, पगेनिनी (डी. 1840) जैसे महान गुणी और युवा लिज्त और थेल्बर्ग का समय. अब जबकि हम मेंडलसोह्न की कृतियों को उसके साथ गलत तरीके से जुड़े बिडरमियर के नाम के बिना भी सुनाने में समर्थ हैं, तो अब हम उन्हें भी इस उचित प्रसंग में स्थान दे सकते हैं। इस समय के बाद, पेगानिनी और चोपिन की मृत्यु के पश्चात, लिज्त ने एक छोटी जर्मन बैठक में कार्यक्रम के मंच से अवकाश ले लिया, बावरिया में शाही संरक्षण प्राप्त करने के पूर्व तक वैगनर पूर्ण रूप से प्रवास में रहे, बर्लियाज अब तक भी उस रूढ़िगत उदारता से संघर्ष करते ,जिसने यूरोप में स्वछान्द्भावी कलात्मक प्रयास को दबा कर समाप्त कर दिया, इस समय तक संगीत में स्वछंदतावाद निश्चित रूप से अपने सर्वोच्च समय को बिता चुका था- और संगीतमय रोमानी समय को आगे आने का अवसर दे रहा था।

रोमानी साहित्य

फ्रांसिस्को गोया, द थर्ड ऑफ मे 1808, 1814

साहित्य में, स्वछंदतावाद को पिछले समय की आलोचना या पुनर्रचना के रूप में एक आवर्ती विषय-मिल गयी, जिनमें बच्चों व महिलाओं पर विशेष महत्त्व के साथ 'संवेदनशीलता' का मत, वर्णनकर्ता या कलाकार का नायकीय एकांकीपन और एक नयी, अदभुद, अबाधित और 'शुद्ध' प्रकृति के प्रति सम्मान आदि शामिल थे। इससे आगे, अनेकों रोमानी लेखकों ने जैसे एडगर एलन पो और नेथेनियल हौथोर्न, ने अपनी लेखनी को अलौकिक/गुप्त और मनोविज्ञान पर आधारित रखा। स्वछंदतावाद ने नए विचारों के उद्भव में भी सहयोग दिया और इस प्रक्रिया में उन सकारात्मक आवाजों का भी जन्म हुआ जो समाज के अधिकारहीन वर्ग के लिए हितकर थी।

स्कॉटलैंड वासी कवि जेम्स मेकफर्सन ने 1762 में प्रकाशित अपनी ओशियन साईकिल ऑफ पोयम्स की अंतर्राष्ट्रीय सफलता के द्वारा स्वछंदतावाद के प्रारंभिक विकासों को प्रभावित किया और गोयेथ और युवा वाल्टर स्कॉट दोनों को ही प्रेरणा दी।

जोहान वुल्फगैंग वोन गोयेथ के माध्यम से प्रारंभिक जर्मन प्रभाव आया, जिनका 1774 में प्रकाशित उपन्यास द सौरोस ऑफ यंग वर्थर ने पूरे यूरोप में युवा पुरुषों को अपने नायक के सामान कार्य करने के लिए प्रेरित कर दिया था, वह नायक एक युवा कलाकार था जो बहुत संवेदनशील और भावुक स्वभाव का था। उस समय जर्मनी छोटे-छोटे पृथक राज्यों का एक समूह था और गोयेथ का काम राष्ट्रवाद के एकीकृत प्रभाव को विकसित करने में एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता था। एक अन्य दार्शनिक प्रभाव जोहन गोतिलेब फिष्ट और फ्रेडरिक शैलिंग के जर्मन आदर्शवाद से आया, जिसने जेना (जहाँ फिष्ट, शैलिंग, हेगल, शिलर और शेलेगल बंधु रहते थे) को प्रारंभिक स्वछंदतावाद ('जेनेर रोमेंटिक') का केंद्र बना दिया। इस काल के महत्त्वपूर्ण लेखक लुडविग टिक, नोवालिस (हेनरिक वोन ओफेर डिंजेन, 1799), हेनरिक वोन क्लेस्ट और फ्रेडरिक होल्डर्लिन . बाद में हेदेल्बर्ग जर्मन स्वछंदतावाद का केंद्र बन गया, जहाँ क्लेमेन्स ब्रेंटेनो, अशीम वोन अर्निम और जोसेफ फ्रेहर वोन आयेशनडोर्फ जैसे लेखक और कवि साहित्यिक मंडली में नियमित रूप से मिला करते थे।

जर्मन स्वछंदतावाद में प्रमुख रूपांकन यात्रा, प्रकृति और प्राचीन कल्पित कथाएं हैं। बाद के समय का जर्मन स्वछंदतावाद, उदाहरण के लिए, इ.टी.ए. हॉफमैन का डेर सैंडमैन (द सैंडमैन), 1817 और जोसेफ फ्रेयर वोन अयेशनडोर्फ का डास मर्मोर्बिल्ड (द मार्बल स्टेचू), 1819, अपने रूपांकन में गंभीर थे और उसमे गोयेथ के तत्त्व भी उपस्थित थे।

जे.एम.डब्लू टर्नर, द फाइटिंग टेमेरेयर टग्ड टू हर लास्ट बर्थ टू बी ब्रोकेन अप, 1839

स्पेन में, रोमानी आन्दोलन के फलस्वरूप अत्यन भिन्न प्रकार के कवियों और नाटककारों सहित एक सुप्रसिद्ध साहित्य विकसित हुआ। इस आन्दोलन के दौरान सबसे महत्त्वपूर्ण स्पेनवासी कवि जोस डे ऐस्प्रोंसेडा थे। उनके बाद अन्य लेखक जैसे गुस्तव एडोल्फो बेकर, मेरियानो जोस डे लारा और नाटककार जोस जोरिला, लेखक डोन जूऐन टेनोरियो आदि हुए। उनसे पूर्व के समय के लिए

पूर्व-रोमानी जोस कैडल्सो और मैनुएल जोस क्विनटेना का उल्लेख किया जा सकता है।

स्पेनिश स्वच्छंदतावाद ने क्षेत्रीय साहित्य को भी प्रभावित किया। उदहारण के लिए, कैंटलोनिया और गैलेसिया में क्षेत्रीय भाषा के लेखेकों का एक राष्ट्रीय उत्कर्ष आया, जैसे-कैटेलान जेकिंत वर्दागुएर और गेलिसियन रोसेलिया डे कैस्ट्रो, जो क्रमशः राष्ट्रीय पुनर्जागरण गतिविधियों रेनाइजेंका और रेजुरडीमेंटो के मुख्य चरित्र भी थे।

ब्राजील के स्वच्छंदतावाद का चरित्र चित्रण तीन विभिन्न कालों में किया गया है। पहला काल मुख्यतः एक राष्ट्रीय पहचान बनाने के भाव पर केंद्रित है, जिसके लिए वीर भारतीय का प्रयोग किया गया है। इसके कुछ उदाहरणों में जोस डे अलेंकर, जिन्होंने 'इरासेमा' और 'ओ गुआरनी' लिखी और गोंक्लेव्स दियास, जो कविता रूकैनको दो एक्सिलो' (प्रवास गीत) द्वारा प्रसिद्द हुए थे। दूसरा काल यूरोपीय विषय वस्तु और परम्परों के लिए प्रसिद्द है, जिसमे अप्राप्य प्रेम के प्रति उदासी, दुःख और निराशा है। इन कार्यों में सामान्यतया गोयेथ और लॉर्ड बायरन का उद्धरण है। तीसरा चक्र सामाजिक कविता के लिए प्रसिद्द है, विशेषतः उन्मूलकों का आन्दोलन, इस काल के महानतम लेखक कैस्ट्रो एल्व्स हैं।

कुछ समय बाद स्वछंदतावाद, ब्रिटिश साहित्य में एक अलग रूप में विकसित हुआ, यह अधिकतर कवियों विलियम वर्ड्सवर्थ और सैमुएल टेलर कोलेरिज से सम्बद्ध है, जिनकी सह-लेखन वाली पुस्तक लिरिकल बैलेट (1798) ने लोक परम्पराओं से ली गयी स्पष्ट भाषा के कारण अगस्तीय कविताओं को उपेक्षित कर दिया। यह दोनों कवि फ्रांसिसी क्रांति के शुरुआत से आदर्शवादी सामाजिक विचारधारा में भी संलग्न थे। कवि एवम चित्रकार विलियम ब्लेक, ब्रिटेन की रोमानी संवेदनशीलता का सर्वाधिक चरम उदहारण हैं, जो अपने दावे 'मुझे जरूर ही एक प्रणाली की रचना करनी होगी या तो दूसरे व्यक्तियों का दास बनाना होगा' के द्वारा जाने जाते हैं। ब्लेक का कलात्मक कार्य सशक्त रूप से मध्य युगीन पुस्तकों से प्रभावित है। चित्रकार जे.एम.डब्लू. टर्नर और जोन कांसटेबल भी सामान्यतः स्वछंदतावाद से जुड़े हैं। लार्ड बायरन, पर्सी बिशे शैली, मेरी शैली और जोन कीट्स, ब्रिटेन में स्वछंदतावाद का एक अन्य चरण बनाते हैं।

यूजीन डेलाक्रोयेक्स, लिबर्टी लीडिंग द पीपल 1830

अधिकांश रोमन कैथोलिक देशों में, जर्मनी और ब्रिटेन की तुलना में स्वछंदतावाद कम प्रचलित था और नेपोलियन के उद्‌भव के बाद वहां इसका विकास शुरू हुआ। फ्रेंकोस–रेने डे चेटुब्रियेंड को प्राय: 'फ्रांसिसी स्वछंदतावाद का जनक' कहा जाता है। फ्रांस में, यह आन्दोलन 19 वीं शताब्दी से जुड़ा है, मुख्यत: थियोडोर गैरीकॉल्ट और यूजीन डेलाक्रोइक्स की चित्रकारियों में, विक्टर ह्यूगो (जैसे लेस मिजरेबल्स और नाइंटी थ्री) के नाटकों, कविताओं और उपन्यासों में और स्टेंडहल के उपन्यासों में।

आधुनिक पुर्तगाली कविता अपने रोमानी प्रतिमान के द्वारा निश्चित रूप से अदभुद चरित्र विकसित करती है, एक अत्यंत सफल लेखक अल्मेडिया गैरेट, जिन्होंने इस विद्या को उत्कृष्ट कृति द्वारा आकार प्रदान करने में सहायता की। वास्तविक निजी रोमानी शैली का यह देर से हुआ आगमन 20 वीं शताब्दी की शुरुआत तक चलता रहा, विशेषत: सिसेरियो वर्दे और एटोनियो नोब्रे जैसे कवियों के कार्यों द्वारा, जो बहुत ही सहजतापूर्वक आधुनिकता उम हालाँकि, स्वछंदतावाद की प्रारंभिक पुर्तगाली अभिव्यक्ति पहले से ही मैनुएल मरिया बर्बोसा दू बोकेज के प्रतिभाशाली कृत्यों में थी, विशेषकर उनकी 18 वीं शताब्दी के अंत के सौनेट में।

रशिया में, स्वछंदतावाद का मुख्य कारण एलेक्सजेंडर पुश्किन थे। मिखैल लार्मोटोव ने समाज और स्वयं से आध्यात्मिक असंतुष्टि के वास्तावुक कारणों के विश्लेषण और उन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया और लार्ड बायरन द्वारा काफी प्रभावित हुए। कवि फ्योदोर तुत्शेव भी रशिया के आन्दोलन के एक मुख्य व्यक्ति थे और वह जर्मन रूमानियत से अत्यधिक प्रभावित थे।

थिओडोर गैरीकॉल्ट, द रफत ऑफ द मेड्‌युसा, 1819

संयुक्त राज्य अमेरिका में, रोमानी गोथिक साहित्य वाशिंगटन इरविंग के द लीजेंड ऑफ स्लीपी हौलो (1820) और रिप वेन विंकल (1819) के साथ ही प्रारंभ में ही प्रकट हो गया था, जो फिर 1823 में जेम्स फेनिमोर कूपर के लेदरस्टाकिंग्स टेल्स से आगे बड़ा, जिसमे उनका बल वीरतापूर्ण सादगी पर था और उनके द्वारा एस सुन्दर दृष्योंका उत्कट चित्रण जो कि पहले से ही अदभुद एवं मिथकपूर्ण सीमान्त प्रदेश हैं, जहाँ के निवासी 'कुलीन असभ्य' थे, जो कि रूसो के दार्शनिक सिद्धांत के सामान है और द लास्ट ऑफ द मोहिकैंस के

उन्कैस द्वारा उद्धृत है। वाशिंगटन इरविंग के निबंधों और खासकर उनके यात्रा वृत्तांतों में 'स्थानीय रंग' के सुरम्य तत्त्व हैं। एडगर एलन पो की विकराल कहानियां और उनके गीतकाव्य उनके देश से अधिक प्रभावशाली फ्रांस में थे, लेकिन रोमानी अमेरिकी उपन्यास का पूर्ण विकास नेथेनियल हौथोर्न के एटमोस्फियर और मेलोड्रामा से हुआ। बाद के श्रेष्ठ लेखक जैसे हेनरी डेविड थोरेऔ और राल्फ वाल्डो एमर्सन के कार्यों में अभी भी इसके प्रभाव और कल्पना के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं, जैसे कि वॉल्ट व्हिटमैन के रोमानी यथार्थवाद में. लेकिन 1880 के दौरान, उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक यथार्थवाद की स्वछंदतावाद से प्रतिस्पर्धा होने लगी। एमिली डेकिनसन की कविता- जो कि उनके समय में लगभग नहीं ही पढ़ी गयी थी और हरमैन मेलविले के उपन्यास मोबी-डिक को अमेरिकी रोमानी साहित्य के प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है।

अमेरिकी लेखकों पर यूरोपीय स्वच्छंदतावाद का प्रभाव

यूरोपीय रोमानी आंदोलन उन्नीसवीं शताब्दी कि शुरुआत में अमेरिका पहुँच गया था। अमेरिकी स्वच्छंदतावाद भी उतना ही बहुआयामी और व्यक्तिवादी था जितना यूरोपीय स्वछंदतावाद।

...रोमानियत में बहुधा कुछ निश्चित सामान्य लक्षण उभयनिष्ठ होते थे—नैतिक व्यग्रता, सहज बोध और व्यक्तिवादिता के मूल्यों पर आस्था और यह पूर्वधारणा कि स्वाभाविक जगत अच्छी का स्रोत है और मानव समाज बुराई का

स्वच्छंदतावाद अमेरिकी राजनीति, दार्शनिकता और कला के क्षेत्र में लोकप्रिय बन गया। इस आन्दोलन ने अमेरिका के क्रन्तिकारी जोश और उन सभी लोगों को आकर्षित किया जो कि शुरूआती कठोर धार्मिक परम्परा व्यवस्था से मुक्त होने को आतुर थे। रूमानियत ने तर्कवाद और धार्मिक बौद्धिकता को अस्वीकार कर दिया। इसने केल्विनवाद के विरोधियों को आकर्षित किया, जिसमे यह विशवास सम्मिलित था कि ब्रह्माण्ड और इसके अंतर्गत सभी घटनाएँ, ईश्वर कि शक्ति पर आधरित हैं। इस रोमानी आन्दोलन ने नव इंग्लैंड श्रेष्ठ्वाद को जन्म दिया, जो कि ईश्वर और ब्रह्माण्ड के मध्य के सम्बन्ध को कम प्रतिबंधात्मक रूप में प्रदर्शित करता था। इस नए धर्म ने व्यक्ति के ईश्वर के साथ सम्बन्ध को अधिक निजी रूप में प्रस्तुत किया। श्रेष्ठातावाद और स्वछंदतावाद दोनों ने ही सामान रूप से अमेरिकियों को आकर्षित किया।

एक नैतिक दर्शनशास्त्र के रूप में, श्रेष्ठातावाद न तो व्यवस्थित है और न ही तार्किक इसने तर्क से अधिक महत्त्व भावनाओं को दिया और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को कानूनी और रूदिगत अवरोधों से ऊपर रखा, इसने उन लोगों को आकर्षित किया जो अपने धर्मनिष्ठ पुरखों के कठोर ईश्वर से घृणा करते थे और उन्हें भी आकर्षित किया नव इंग्लैंड अद्वैतवाद के निष्प्रभ ईश्वर से घृणा करते थे।.....वे सांस्कृतिक कायाकल्प के लिए और अमेरिकी समाज के भौतिकवाद के विरोध के लिये चर्चा करते थे। वे 'परमात्मा' की श्रेष्ठ में विशवास रखते थे और मानते थे कि वह अच्छाई के लिए एक सर्वव्यापक शक्ति है, जिसने सभी को जन्म दिया है और संसार की सभी वस्तुएं उसका ही एक भाग है।

अमेरिकी स्वछंदता ने व्यक्तियों का स्वागत किया और नव प्रचीन्वाद व धार्मिक परम्पराओं के बंधन का विरोध किया। अमेरिका में रोमानी आन्दोलन ने एक नयी साहित्यिक विधा का रचना कर दी जो आधुनिक लेखकों को भी प्रभावित कर रही है।

उपन्यास, लघु कथाओं और कविताओं ने उपदेशों और घोषणापत्रों का स्थान ले लिया, जो कि अमेरिका के प्रारंभिक साहित्यिक सिद्धांतों से जुड़े थे।

रोमानी साहित्य निजी व गंभीर था और ऐसी भावनाओं को व्यक्त करता था, जिन्हें कभी नव प्राचीनवाद में नहीं देखा गया था। स्वतंत्रता के साथ अमेरिका का पूर्वाधिकार स्वछन्दतावादी लेखेकों के लिए प्रेरणा का एक महान स्रोत बन गया, क्यूंकि वह विवाद और हंसी का पात्र बने बिना मुक्त अभिव्यक्ति और भावनाओं के प्रदर्शन से प्रसन्न थे। वह अपने चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास पर अधिक प्रयास करते थे। नायक और नायिकाएं चरम उत्साह और संवेदनशीलता का प्रदर्शन करते थे।

रोमानी लेखन पर युद्ध का प्रभाव

स्वच्छन्द्तावाद वाद के दौरान अनेक युद्ध हुए। सात वर्षीय युद्ध (1756-1763) के साथ साथ फ्रेंच और भारतीय युद्ध और फिर अमेरिकन क्रांति (1775-1783) और उसके फौरन बाद हुई फ्रांसीसी क्रांति (1789 -1799)।

ये सभी युद्ध और इनके साथ चल रही राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल, स्वच्छन्द्तावाद की पृष्ठभूमि का कार्य करती है। युद्ध के दौरान उत्पन्न कठोर भावनाओं ने कला और साहित्य, जैसी पहले कभी नहीं देखी गयी,

के प्रवाह के लिए उत्प्रेरक का कार्य किया। यह लेखन वास्तव में इतना भिन्न था की इसने अपने नए रोमानी युग का आरंभ किया।

रोमानी युग की रचनायें साहित्य का एक विशाल एवं अनूठा संग्रह है, हालांकि इस सभी रचनाओं में तीन बातें सामान हैं- प्रकृति-प्रेम, राष्ट्रवाद की भावना और विशिष्ट आकर्षण की भावना. इन साधारण अभिलक्षणों को इस बात से जोड़ के देखा जा सकता है कि ये रचनायें राजनैतिक उथल-पुथल के समय लिखी गयी हैं। उदाहरण के लिए, रोमानी साहित्य में राष्ट्रवाद इस तथ्य को इंगित करता है कि उस समय के लेखक अपने देश, देशवासियों और उनके ध्येय पर अभिमान करते थे। यह उन लेखकों के स्वयं लड़ने का तरीका था।

इसके अलावा, रोमानी युग का लेखन उसके पहले किये गए लेखन से बहुत अलग है, जिसमें उन्होंने 'जन-साधारण' की बातें की हैं। रोमानी लेखकों का लक्ष्य रहा कि साहित्य एवं कला सभी के लिए, आम आदमी के लिए हों न कि सिर्फ धनी एवं विशिष्ट जनों के लिए। रोमानी युग के पहले का अधिकांश साहित्य और उसकी शैली सिर्फ धनी उच्च-वर्ग पर केन्द्रित थी। रोमानी लेखकों का इसे बदलने में हाथ था - और ऐसा इसलिए, क्योंकि शायद वे जन-साधारण के साथ जुड़ने की कोशिश कर रहे थे। युद्ध और राजनैतिक बेचौनी के समय में ये लेखक अपने समकक्ष जनों से जुड़ने की कोशिश कर रहे थे और ये उनसे ऊपर के स्तर के लोगों के विपरीत था जो कि लड़ाई को बढ़ावा देते थे .

रोमानी काल के दौरान, हम महिला लेखकों में वृद्धि को देख सकते हैं। यह भी इस तथ्य कि पुष्टि करता है कि यह समय युद्ध से भरपूर था। महिलाएं अपने घर पर ही रहती थीं, उनके पास अपनी भावनाओं को व्यक्त करने, ध्येय के लिए लड़ने और अपने साथियों से जुड़ने का और कोई मार्ग नहीं था। मैरी फावरेट और उनके जैसी महिला रोमानी लेखिकाएं ऐसी भावनाओं से प्रभावित हैं, जो कभी-कभी स्वयं युद्ध का सन्दर्भ बन जाती हैं, उदाहरण के लिए फावरेट की

'वार इन द एयर'

जो समयकाल युद्ध से इतना आच्छादित था, उस समय का समाज और उसका हर पहलू, यहाँ तक कि कला का हर रूप, उस से प्रभावित नहीं होगा, यह सोच ही अनुचित है। हम साहित्य के किसी भी अंश को उठा कर देख लें, उन पर युद्ध और सामाजिक उठा-पुथल का प्रभाव स्पष्ट वर्णित है .

रोमानी दृश्य कला

फ्रांसिसी स्कूल नयी पीढ़ी के नेतृत्व में, यूरोपीय चित्रों में स्वछंदतावादी संवेदनशीलता और नव प्राचीनवाद के मध्य विषमता दिखाई पड़ती थी, क्यूंकि नव प्राचीनवादियों की शिक्षा प्रशिक्षण शाला में हो रही थी। रंग और डिजाइन, अभिव्यक्ति और रंगों के स्वभाव से सम्बंधित पुनर्जीवित संघर्ष में, जैसा कि जे. एम.डब्लू. टर्नर, फ्रांसिस्को गोया, थियोडोर जेरिकाल्ट और यूजीन डेलाक्रोइक्स के काम में था, ब्रश के स्पर्श में नयी विशिष्टता पर जोर दिया और कलाकारों की मुक्त हस्त चित्रकारी पर भी रंग थोप दिया, जिसे एक सहज परिष्कृति के लिए नव प्राचीनवाद में दबाया जाता था।

थिओडोर कैसेराऊ, ओथेलो एंड डेसडेमोना इन वेनिस, 1850 में, ऑयल ओन वुड, 25×20 सेमी, लोवर, पेरिस में, (शेक्सपियर से प्रेरित) कैसेराऊ का प्रतीकवादियों पर प्रभाव था।

जिस प्रकार इंग्लैंड में जे.एम.डब्लू. टर्नर और सैमुएल पाल्मर, जर्मनी में कैस्पर डेविड फ्रेडरिक, नार्वे में जे.सी. दहल और हंस गुडे, स्पेन में फ्रांसिस्को गोया और फ्रांस में थियोडोर जेरिकाल्ट, यूजीन डेलाक्रोइक्स, थियोडोर कैसेराऊ और अन्य के साथ होता था, अमेरिकी दृश्य कला में भी स्वछंदतावाद का एक प्रति:प था, जो विशेषकर हडसन रिवर स्कूल के चित्रों में प्राप्त अमेरिकी मनोरम दृश्य के निर्बाध उन्नयन में था। थॉमस कोल, एल्बर्ट बियरस्टेड और फ्रेडरिक एडविन चर्च और अन्य प्राय: अपने चित्रों में रोमानी शैली की अभिव्यक्ति करते थे। वह कभी कभी प्राचीन विश्व के अवशेषों का भी चित्रण करते थे, जैसे कि फ्रेडरिक एडविन की चर्च कृति सनराइज इन सीरिया में. इन कृतियों में मृत्यु और पतन की गॉथिक भावना परिलक्षित होती थी। वह इस रोमानी आदर्श का भी प्रदर्शन करते थे कि प्रकृति सर्वशक्तिमान है और अंतत: मनुष्य की सभी अस्थायी रचनाओं पर विजय पा लेगी, कई बार वह स्वयं को यूरोपीय प्रति:पों से भिन्न सिद्ध करने के लिए अनोखे अमेरिकी दृश्य व प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करते थे। कला जगत में अमेरिकी पहचान का यह विचार डब्लू.सी., ब्राइएन्ट की कविता, टू कोल, द पेंटर, डिपार्टिंग फॉर यूरोप में दिखाई पड़ता है, जहाँ ब्राइएन्ट कोल को उन सुन्दर दृश्यों को याद करने के लिए प्रेरित करता है, जो सिर्फ अमेरिका में ही पाए जाते हैं। यह कविता रोमानी काल के साहित्यिक और दृश्य कला के कलाकारों के मध्य सशक्त सम्ब्वंध को भी दिखाती है।

कुछ अमेरिकी चित्र आदर्श अमेरिकावासियों के स्वाभाविक संसार में प्रेम पूर्वक रहने का चित्रण करके साहित्यिक विचार 'कुलीन असभ्य' का समर्थन करते हैं (जैसे–अलबर्ट बियरस्टेड का द रॉकी माँउंटेंस)।

थॉमस कोल के चित्र में सशक्त वर्णन होता है जैसे 1840 की शुरुआत में बनाई गयी द वोयज ऑफ लाइफशृंखला, जो यह चित्रित करती है कि मनुष्य अदभुद और विशाल प्रकृति के साथ रहने का प्रयास कर रहा है, पालने से लेकर कब्र तक।

जीवन की यात्रा

थॉमस कोल, 1842 द वॉयज ऑफ लाइफ चाइल्डहुड।
थॉमस कोल, 1842 द वॉयज ऑफ लाइफ मैनहुड।
थॉमस कोल, 1842 द वॉयज ऑफ लाइफ ओल्ड एज।

रोमानी राष्ट्रवाद

एगिड चार्ल्स गुस्तव वैपर्स, बेल्जियम क्रांति 1830 की कड़ी, 1834 म्युसी आर्ट एंसें, ब्रूसेल्स एक बेल्जियन चित्रकार द्वारा एक रोमानी दृश्य।

राष्ट्रवादिता का अभिकथन, स्वछंदतावादियों का एक प्रमुख और सर्वाधिक चिरस्थायी उपाय बन गया, जो रोमानी कला और दर्शनशास्त्र की केंद्रीय शैली बन गयी। आन्दोलन के शुरूआती समय से, जब उनका ध्यान राष्ट्रीय भाषा व लोकभाषा के विकास, स्थानीय रिवाजों व परम्पराओं के महत्त्व, से लेकर उन आन्दोलनों पर था जो पुनः यूरोप का नक्शा बनायेंगे और राष्ट्रीयता के स्व–निर्धारण की अगुआई करेंगे, राष्ट्रीयता, इसकी भूमिका, अभिव्यक्ति और अर्थ यह स्वछंदतावाद के प्रमुख वाहक बन गए।

शुरूआती रोमानी राष्ट्रवाद का रूसो ने अत्यधिक समर्थन किया और जोहन गोटफ्राइड वों हर्डर के सुझावों द्वारा, जिन्होंने 1784 में यह तर्क दिया कि भूगोल व्यक्ति की प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की रचना करता है और उनके समाज व रिवाजों को एक आकार प्रदान करता है।

राष्ट्रवाद की प्रकृति नाटकीय रूप से बदल गयी, हालाँकि फ्रांसिसी क्रांति के बाद नेपोलियन के उत्थान के साथ, अन्य देशों की इसके प्रति प्रतिक्रिया में भी बदलाव आया। पहले तो नेपोलियन का राष्ट्रवाद और समाजवाद अन्य राष्ट्रों के आन्दोलनों के लिए प्रेरणादायक थे: स्व निर्धारण और राष्ट्रीय एकता के प्रति

जागरूकता दो ऐसे कारण समझे जाते थे जिससे फ्रांस युद्ध में अन्य देशों को पराजित करने में सफल हो सका, पर जैसे-जैसे फ्रांसिसी गणराज्य नेपोलियन के साम्राज्य में आ गया, नेपोलियन राष्ट्रीयता के लिए प्रेरणा के स्थान पर इसके संघर्ष का प्रतीक बन गए। प्रुशिया में, नेपोलियन के विरुद्ध संघर्ष में सम्मिलित होने के लिए आध्यात्मिक नवीकरण के विकास पर केन्त के शिष्य जोहान गोटीलेब फिष्ट तथा अन्य के द्वारा विचार किया गया। शब्द वोल्कस्टम, या राष्ट्रीयता, की शुरुआत जर्मनी में विजयी सम्राट के प्रतिरोध में की गयी थी। फिष्ट ने अपने 1806 के भाषण 'टू द जर्मन नेशन' में भाषाओं और राष्ट्र की एकता पर विचार व्यक्त किये।

अक्सेली गैलेन-कैलेला, द फोर्जिंग ऑफ द सैम्पो, 1893फिनलैंड का एक कलाकार जो कैलेवैला के संकलन से प्रेरणा ले रहा था।

जो लोग एक ही भाषा बोलते हैं वह एक दूसरे से प्रकृति के अनेकों अदृश्य बंधनों के द्वारा जुड़े हैं, किसी मानव कला के विकसित होने से बहुत पहले ही, वह एक दूसरे को समझने लगते हैं और स्वयं को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने योग्य बनाने लगते हैं, उनका अस्तित्व एक साथ रहने में ही है और वह पूर्ण एक हैं, जिसे अलग नहीं किया जा सकता..... मात्र तब ही जब प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं पर छोड़ दिया जायेगा और वह अपनी विशिष्ट प्रतिभाओं के आधार पर स्वयं को बनाएगा और सिर्फ तब ही, जब प्रत्येक व्यक्ति उन्ही उभयनिष्ठ विशिष्टताओं के आधार पर स्वयं को विकसित करेगा- तब और सिर्फ तब ही, अपने सही मायनों में ईश्वरत्व का आविर्भाव होगा जैसा कि होना चाहिए।

राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण ने लोकसाहित्य के संकलन को ब्रदर्स ग्रिम जैसे लोगों द्वारा प्रोत्साहित किया, पुराने महाकाव्यों का राष्ट्रीय के रूप में पुनः प्रचलन, ऐसे नए महाकाव्यों की रचना जो पुरानी शैली के हों, जैसे कि कैल्वाला, जो कि फिन्लैंड की कथाओं और लोक साहित्य से संकलित था या ओशियन, जिसमे कि उन प्राचीन जड़ों की खोज की गयी है, जिन पर दावे किये गए हैं। यह विचार कि परी-कथाएं, जब तक कि वह बाहरी साहित्यिक स्रोत द्वारा दूषित न की जाएँ, तब तक वह हजारों वर्ष से उसी रूप में रहती हैं, यह मात्र रोमानी राष्ट्रवादियों में विशेष नहीं था, लेकिन उनके इस विचार के साथ आसानी से सामंजस्य बना लेता था कि ऐसी कथाएं लोगों के मौलिक स्वभाव को व्यक्त करती हैं। उदहारण के लिए, ब्रदर्स ग्रिम ने अपने द्वारा संकलित कई कथाओं को

अस्वीकृत कर दिया, क्यूंकि वह चार्ल्स परौल्ट की कहानियों के सामान थीं, जी उनके अनुसार यह प्रदर्शित करता था कि यह कथाएं पूर्ण रूप से जर्मन नहीं हैं, उनके संकलन में स्लीपिंग ब्यूटी का स्थान बना रहा, क्यूंकि ब्राइनहिल्ड्र की कहानी ने उन्हें इस बात के लिए सहमत कर लिया कि निद्रामग्न राजकुमारी का चरित्र प्रमाणिक रूप से जर्मन है।

केंद्रीय यूरोप के अनेकों लोगों, जिनके पास अपना राष्ट्रीय राज्य नहीं था, उनके राष्ट्रीय जागरण में स्वछंदतावाद ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सिर्फ पोलैंड में ही नहीं, जिसने हाल में ही अपनी स्वतंत्रता खो दी थी, जब रशिया की सेना ने निकोलस 1 के नेतृत्व में पोलैंड के क्रांतिकारियों को समाप्त कर दिया था। रोमानी कवियों और चित्रकारों द्वारा प्राचीन मिथकों, रिवाजों और परम्पराओं का पुनः प्रचलन और पुनाराभिव्यक्ति ने प्रभावी देशों में से उनके मौलिक संस्कृति का भेद कर पाने और रोमानी राष्ट्रवाद के मिथकलेख का क्रिस्टलीकरण कर पाने में सहायता की। स्वतंत्रता के लिए देशभक्ति, राष्ट्रवाद, क्रांति और सैन्य संघर्ष भी इस काल की कला की प्रचलित शैली बन गयी। विवादस्पद रूप से, एडम मिकिविज यूरोप के इस भाग के सर्वाधिक विशिष्ट कवि रहे, जिन्होंने यह विचार विकसित किया कि पोलैंड राष्ट्रों का मसीहा था और कष्ट सहना उसी प्रकार उसके भाग्य में लिखा था, जिस प्रकार यीशु को सभी लोगों को बचाने के लिए कष्ट सहना पड़ा था।

इंग्लैंड धक्का दिय,जब स्वच्छंदतावाद, सबसे निपुण सबसे पूरा विशिष्टताओं को विकसित किया है। ब्रिटिश प्रेमपूर्ण आंदोलन निम्नलिखित विशेषताओं में से कुछ के साथ अन्य देशों के साथ तुलना में, सबसे पहले, ब्रिटेन के एक बड़े पैमाने पर साहित्यिक स्वच्छंदतावाद आंदोलन फार्म नहीं था, यह मुफ्त गतिविधियों के रूप में कुछ लेखकों द्वारा है। दूसरे, ब्रिटिश रूमानियत लंबा इतिहास है, नदी के पानी की तरह, एक सौ पचास साल तक चली, जो लगातार हनतहसपदह. अठारहवीं सदी में, विलियम ब्लेक (1757 - 1827) से और किसान कवि रॉबर्ट बर्न्स (1759 - 1796) की कविताओं के संबंध में 1820 में रूमानियत के लक्षण प्रकट जो, बायरन, एक चरमोत्कर्ष के रूप में शेली कविता, उन्नीसवीं सदी तक, महारानी विक्टोरिया (1837 तक राज्य करता रहा - 1901) टेनीसन, रॉबर्ट ब्राउनिंग और उनकी पत्नी एलिजाबेथ बैरेट से अभी भी उपलब्ध है, सत्तारूढ़ युग, ब्राउनिंग एट अल कविता, मैं ध्वनि देखना रूमानियत. एक बार फिर, ब्रिटिश रूमानियत स्पष्ट रूप से दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित है।

नकारात्मक स्वच्छंदतावाद, विरोधात्मक वर्ड्सवर्थ, है, मुख्य रूप से गेहूं की ओर से, सक्रिय रूप से कला प्रदर्शन से पहले चढ़ा सकारात्मक द्वारा प्रतिनिधित्व बायरन, शेली, कीट्स, के लिए है रोमांटिक।

कला रूपों

स्वच्छंदतावाद चित्रकारी

उन्नीसवीं सदी के शुरू, एक कला शैली में फ्रेंच पेंटिंग में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति के उदय, यह चित्र नवशास्त्रीय शैक्षिक और बेड़ियों से छुटकारा पाने के लिए किया गया था, उनकी कल्पना और रचनात्मक कलाकारों के लिए खेलने पर जोर, वास्तविक जीवन, मध्ययुगीन किंवदंतियों और साहित्यिक कृतियों (जैसे शेक्सपियर, डांटे, गेटे रूप से लिया रचनात्मक विषयों, बायरन का काम करता है), आदि, एक निश्चित प्रगतिशील है। प्रतिनिधि कार्यों ` में सदस्यता शामिल 'मेडुसा का बेड़ा,' Delacroix की 'लिबर्टी लोग अग्रणी। ' गर्म रंग स्क्रीन, स्ट्रोक और आंदोलन की कल्पनाशील, अमीर भावना।

स्वच्छंदतावाद कला

'स्वछंदतावाद' इतने पर मध्ययुगीन यूरोप वीर महाकाव्य और महान शूरवीर, गीत में प्रचलित है, जिसका अर्थ 'रोमांस' शब्द, मध्य युग से आता है। हम यहाँ रूमानियत की बात कर रहे हैं, आम तौर पर 18-19 वीं सदी के लिए संदर्भित करता है, विचार और कला के आंदोलन से उत्पन्न होने वाले कुछ यूरोपीय देशों, यह कला के सभी क्षेत्रों में परिलक्षित होता है– ब्रिटिश कविता, उपन्यास और परिदृश्य जर्मन कविता और संगीत, फ्रांसीसी चित्रकला और मूर्तिकला। स्वच्छंदतावाद उत्पन्न दार्शनिक नींव, जर्मन शास्त्रीय दर्शन और प्रबुद्धता काल्पनिक समाजवाद की विचारधारा के प्रभाव से इस अवधि में लोकप्रिय है। यह व्यक्तिपरक, प्रतिभा और प्रेरणा जोर देती है, मानव स्वतंत्रता और मुक्ति पर जोर देती है।

कला में, स्वच्छंदतावाद प्रमुख घटनाओं, विदेशी ओरिएंट के लिए तड़प दिखा रहा है, जबकि ऐतिहासिक पुरानी यादों में अन्य की चिंता का इतिहास और सामाजिक वास्तविकता में रुचि दिखा रहा है, कलाकार की व्यक्तिपरक रचनात्मकता पर जोर दिया।

कलात्मक अभिव्यक्ति में, शैक्षिक रूमानियत और क्लासिसिज्यम यह विशिष्ट और विशिष्ट चित्रण और भावुक हूं, पर बल एक विशुद्ध रूप से तर्कसंगत और अमूर्त अभिव्यंजनावाद का विरोध करता है, पूरी तरह से विपरीत है, विपक्ष टाइप और सामान्यीकरण, प्रदर्शन व्यक्तिगत अधिवक्ताओं चरित्र के व्यक्तित्व विशेषताओं और मानसिक स्थिति को दर्शाया गया है, प्राचीन कला कलात्मक सृजन, स्वतंत्र स्वभाव आवेशपूर्ण वकील पूरी तरह से व्यक्त की रचना में कलाकार की भावनाओं के व्यक्तिपरक चित्रण बेड़ी करने के लिए कानून के इस्तेमाल का विरोध, टकसाली मूर्तिकला आकार और नमूने के खिलाफ overemphasize को कलाकार के सामाजिक आदर्शों और सौंदर्य आदर्शों को व्यक्त करने के क्रम में, रूपक या कलात्मक छवि को आकार प्रतीकात्मक दृष्टिकोण में कभी-कभी अशांत रचना, बोल्ड और चिकनी स्ट्रोक के साथ, रंग के प्रकाश और रंग संतृप्ति पर मजबूत विपरीत बल देने के लिए कोशिश कर अभिव्यक्ति का प्राथमिक साधन,.

रोमांटिक संगीत

कुल मिलाकर, 'रूमानियत' ऊपर 1918 तक की अवधि के 1820 के आस-पास से संगीत का एक क्षेत्र का वर्णन शब्द का इस्तेमाल किया है। फिर 'रोमांटिक' अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है और आधुनिक परिभाषा तीन 'प्रेमपूर्ण संगीतकार' के रूप में सूचीबद्ध 1880 संगीत समीक्षक ईटीए हॉफमन इच्छा मोजार्ट, हेडन, और बीथोवेन के रूप में ही नहीं है और पीटर लुई का इतिहास सियोल एक पैरा में बीथोवेन पांचवें सिम्फनी वर्णन करने के लिए एक 'अच्छी रोमांटिक' है। सख्ती से शास्त्रीय युग संगीतकार मोजार्ट, बोल, और बीथोवेन रूमानियत की शुरुआत माना जाता है। 20 वीं सदी में, 19 वीं सदी के दौरान नाटकीय रूप से बदल मुख्यधारा संगीत शैली के रूप में, संगीत के शीर्षक में ताज 'प्रेमपूर्ण अवधि संगीत' होना शुरू हुआ और बाद में भी संगीत इतिहासकारों इस तरह के अंतर कानूनों ले लिया है।

उदाहरण के लिए, रोमांटिक राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति का एक सीधा प्रतिबिंब था जो लोक संगीत का व्यापक उपयोग, -उनके संगीत है कि गठन तत्वों सहित रोमांटिक संगीत के लिए आधुनिक अनुसंधान प्राथमिकताओं, 18 वीं सदी के शुरू में रोमांटिक संगीत, संगीत के कुछ तत्त्व पहले से ही दिखाई दिया था, Sturm नदक द्रांग आंदोलन एक मजबूत मानसिक और भावनात्मक गॉथिक

उपन्यास फ्रांसीसी क्रांति के एक अग्रणी बन गया, प्रदर्शन किया, खूनी और भावुक शैली के साथ कुछ किया गया है ओपेरा, रोमांटिक संगीत इस अवधि में है, अपनी अनूठी शैली का प्रदर्शन शुरू कर दिया। लोरेंजो दा PENGTEH नया संगीत शैलियों के साथ एक व्यक्ति और स्वतंत्रता गुणों दिखा रहा है, एक अनोखी रचना को मोजार्ट का संगीत के साथ, मोजार्ट के लिए लीब्रेट्टो लिखा। रोमांटिक संगीत पीढ़ियों बीथोवेन महान संगीतकार के अपने आदर्श माना जाता है – वह सम्राट नेपोलियन की सत्ता के खिलाफ विरोध करने के लिए, Eroic की स्पेक्ट्रा दोनों फाड़े बीथोवेन Fidelio में उन्होंने सभी स्वतंत्रता के लिए तत्पर वियना बैठक में उन वर्षों की सराहना करने के लिए फ्रांसीसी क्रांति है, जो ओपेरा librettos की तो ठेठ एक 'बंधक बचाव ओपेरा', एक संगीत की संस्कृति का प्रदर्शन बनवाया

संगीत की संस्कृति के समय में, एक खुली सार्वजनिक मार्ग पर रोमांटिक संगीत, मुख्य रूप से बल्कि अदालत के प्रायोजन के अंदर एक व्यक्ति से, संवेदनशील मध्यम वर्ग के दर्शकों के समर्थन पर निर्भर हैं। सार्वजनिक प्रदर्शन एक लहर आकार सबसे प्रसिद्ध Paganini और लिज्त सहित ओपेरा की नई पीढ़ी, एक एकल ढंग से मंच पर संगीतकारों का एक बहुत बनाता है।

पिच को बदलने के व्यापक उपयोग के लिए बीथोवेन भी वे संगीत के विकास का एक नया क्षेत्र बन गया है, ताकि कई नए संगीत रूपों और संरचनाओं के लिए प्रेरित किया। विशेष रूप से बाद में पियानो संगीत और स्ट्रिंग ुनंतजमजे में, संगीत की दुनिया में एक बड़ा अप्रयुक्त क्षेत्रों, वहाँ साबित कर दिया है। एक लेखक, संगीत समीक्षक और ई के संगीतकार * टी * एक * हॉफमैन भी वाद्य संगीत संगीत गायन भी समय अव्यावहारिक माना जाता था पर इस अवधारणा की क्षमता है और अधिक से अधिक व्यक्त कर सकते हैं कि वकालत की है। वह अभी भी (जैसे– फेलिक्स Mendelssohn के रूप में अन्य संगीतकारों में से कुछ का सामना करना पड़ा, हालांकि हॉफमैन खुद एक संगीतकार और विद्वान दोनों है, वह संगीत के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, 'व्यवस्थित', कई सार्वजनिक इस में दिलचस्पी बनने के लिए शुरू किया कि एक कहानी कहता है) आलोचना। 19 वीं सदी के संगीत वाद्य तकनीक, नए घटनाक्रम की एक किस्म–जैसे formwork पियानो के रूप में, तार के आस–पास लिपटे तार, संगीत वाद्ययंत्र उच्च और व्यापक टेप द्वारा जारी किया गया है और इसके अलावा में अधिक ध्वनि, भी खिलाड़ियों को उनके व्यक्तिगत प्रदर्शन करने के

लिए अनुमति देता ,अनूठी तकनीकी स्तर, यह तकनीक केवल पियानो की लंबाई बढ़ाने, लेकिन यह भी अधिक संगीत संरचना का परिचय है, और इस तरह खड़े बंद ओपेरा गायन, पियानो कल्पना, रात का दृश्य, और concertos के रूप में संगीत के कई नए प्रकार, बनाने, रोमांटिक संगीत नहीं बन जाएगा केंद्र.

ओपेरा में, कार्ल मारिया वॉन वेबर 'Freischütz' लोक संस्कृति में निहित एक, एक कॉम्पैक्ट क्लासिक कहानी के साथ अलौकिक रोमांटिक थ्रिलर का एकीकरण, अपने में फ्रांस हेक्टर बर्लियोज बन गया, जल्दी काम करता है। यह भी एक अमीर लय और ध्वनि की गुणवत्ता दिखाया, बाद में आतंकवादियों के 'भविष्य संगीतकार' (वैगनर के ही शब्दों के अनुसार) के रूप में कमतपकमक था, लिज्त और वैगनर का काम करता है, स्वतंत्रता, आध्यात्मिकता, जादू, और व्यक्तिगत गुण लगभग अपरंपरागत रोमांस के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं, पूजा।

से इस अवधि के दौरान 1815–1848 बीथोवेन (1827 मर गया) और फ्रांस Schubert (1828 में मृत्यु हो गई) उनकी अंतिम अवधि के दौरान पूरा किया गया, रोमांटिक संगीत की उमंग का समय माना जाता है काम करता है, और भी शुमान (1856 मृत्यु) और चोपिन (1849 मर गया) भी शामिल है। बर्लियोज और वैगनर उनके लेखन कैरियर शुरू करने के समय में, युवा लिज्त और फेलिक्स Mendelssohn भी फिर उभरेगा, इस समय के बाद के दौरान, चोपिन और च्हंदपदप की मौत के साथ, लिज्त अखाड़ा खेल छोड़ दिया, वह प्रायोजकों जब तक संगीतकार रिचर्ड वैगनर भी बवेरिया में अब तक निलंबित कर दिया, और बर्लियोज का संगीत अभी भी कट्टरपंथी का पालन पूंजीपति उदारवाद शैली के खिलाफ दिशा, रोमांटिक संगीत अब तक संपन्न हुआ, इसका प्राथमिक प्रभाव चरण में सोचा और रोमांटिक संगीत की एक अधिक व्यापक अवधि में है, कहा जा सकता है।

पहले अठारहवीं सदी के साहित्य में देखा, कला में स्वच्छंदतावाद की वृद्धि, इन कार्यों करेंगे सभी व्यक्तिगत भावनाओं, स्वाद और ताजा कर सकते हैं। संगीत में, रोमांटिक संगीतकारों जोरदार इससे पृथक की शास्त्रीय फार्म का प्रभुत्व है, जो अपने स्वयं आदत, प्रकट. शास्त्रीय संगीत की तरह, एक तेज रेखा की तरह, रोमांटिक संगीत रंग और भावना पर जोर दिया है और कई व्यक्तिपरक कल्पना कारक होता है।

बहरहाल, यह तो एक स्पष्ट अंतर आकर्षित करने की इच्छा का आयोजन किया है, जो संगीत के इतिहासकार के अनुसार, क्लासिसिज्यम और रूमानियत के बीच, उदाहरण के लिए, के बीच विभिन्न रचनात्मक शैलियों के सिद्धांत में फर्क सिर्फ इतना है, इतना आसान कभी नहीं किया गया। हमेशा बहुत साधारण बहुत महत्त्वपूर्ण कारकों में से एक बहुत कुछ कर रहे हैं, इन परिभाषाओं की उपेक्षा की वजह से बस, असाध्य परिभाषित।

6

उत्तर आधुनिकतावाद

आधुनिकतावाद, अपनी व्यापक परिभाषा में, आधुनिक सोच, चरित्र, या प्रथा है, अधिक विशेष रूप से, यह शब्द उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरम्भ में मूल रूप से पश्चिमी समाज में व्यापक पैमाने पर और सुदूर परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के एक समूह एवं सम्बद्ध सांस्कृतिक आन्दोलनों की एक सरणी दोनों का वर्णन करता है। यह शब्द अपने भीतर उन लोगों की गतिविधियों और उत्पादन को समाहित करता है, जो एक उभरते सम्पूर्ण औद्योगीकृत विश्व की नवीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों में पुराने होते जा रहे कला, वास्तुकला, साहित्य, धार्मिक विश्वास, सामाजिक संगठन और दैनिक जीवन के 'पारंपरिक' रूपों को महसूस करते थे।

आधुनिकतावाद ने ज्ञानोदय की सोच की विलंबकारी निश्चितता को और एक करुणामय, सर्वशक्तिशाली निर्माता के अस्तित्व को भी मानने से अस्वीकार कर दिया। इसका मतलब यह नहीं है कि सभी आधुनिकतावादी लोगों या आधुनिकतावादी आन्दोलनों ने या तो धर्म को या ज्ञानोदय की सोच के पहलुओं को मानने से इंकार कर दिया है, इसके बजाय कि आधुनिकतावाद को अतीत काल की ''सूक्तियों'' के पूछताछ के रूप में देखा जा सकता है।

आधुनिकतावाद की एक मुख्य विशेषता आत्म-चेतना है। इसकी वजह से अक्सर रूप और कार्य पर प्रयोग किया जाता है, जो प्रक्रियाओं और प्रयुक्त सामग्रियों की तरफ (और मतिहीनता की अगली प्रवृत्ति की तरफ) ध्यान

आकर्षित करता है। 'मेक इट न्यू!' के लिए कवि एज्रा पाउंड पर रूप निदर्शनात्मक निषेधाज्ञा लग गई थी। आधुनिकतावादियों के 'नव निर्माण' में एक नया ऐतिहासिक युग शामिल था या नहीं, यह अब बहस का मुद्दा बना हुआ है। दार्शनिक और संगीतकार थियोडोर एडोर्नो हमें चेतावनी देते हैं–

'आधुनिकता एक गुणात्मक, न कि एक कालानुक्रमिक, वर्ग है, जिस तरह इसे केवल अमूर्त रूप में नहीं लाया जा सकता है, ठीक उसी तरह समान आवश्यकता के साथ इसे पारंपरिक सतह सम्बद्धता, सद्भाव की उपस्थिति, केवल प्रतिकृति द्वारा मंडित क्रम की तरफ से अपना मुंह फेर लेना चाहिए'

एडोर्नो ने हमें आधुनिकता को ज्ञानोदय की सोच, कला, एवं संगीत की गलत समझ, सद्भाव और सम्बद्धता की अस्वीकृति के रूप में समझाया होगा। लेकिन अतीत चिपचिपा साबित होता है। पाउंड के नव निर्माण करने की सामान्य अनिवार्यता और एडोर्नो द्वारा गलत सम्बद्धता एवं सद्भाव के चुनौतीपूर्ण उपदेश को परंपरा के साथ कलाकार के सम्बन्ध पर टी. एस. ईलियट के गुरूच्चरण का सामना करना पड़ता है। ईलियट ने लिखा है–

'हमलोग, अक्सर पाएंगे कि एक कवि, की रचना के केवल सबसे अच्छे ही नहीं, बल्कि सबसे व्यक्तिगत हिस्से भी, ऐसी रचनाएं हो सकती हैं, जिसमें मृत कवि, उनके पूर्वज, अपनी अमरता पर सबसे ज्यादा जोशपूर्ण ढंग से जोर देते हैं।'

साहित्यिक विद्वान पीटर चाइल्ड्स जटिलता का सार प्रस्तुत करते हैं–

'यदि विरोध नहीं हुआ, तो क्रन्तिकारी एवं प्रतिक्रियात्मक परिस्थितियों के प्रति असत्यवत प्रवृत्ति, नवीनता का भय और पुराने, शून्यवाद एवं कट्टर उत्साह, रचनात्मकता एवं निराशा के खत्म होने पर खुशी होती थी।'

ये प्रतिरोध आधुनिकतावाद में निहित है– यह आधुनिक युग से अलग होने की वजह से अतीत के आकलन के इसके व्यापक सांस्कृतिक समझ में निहित है, ऐसी मान्यता थी कि विश्व और अधिक जटिल होता जा रहा था और यह भी कि पुराने 'अंतिम अधिकारी' (ईश्वर, सरकार, विज्ञान, एवं कारण) अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संवीक्षा के अधीन थे।

आधुनिकतावाद की वर्तमान व्याख्याओं में अंतर है। कुछ बीसवीं सदी की प्रतिक्रिया को आधुनिकतावाद एवं उत्तरआधुनिकतावाद में विभाजित करते हैं, जबकि अन्य इन्हें एक ही आन्दोलन के दो पहलुओं के रूप में देखते हैं।

वर्तमान दृष्टिकोण

कुछ टिप्पणीकार आधुनिकतावाद को सोच की सम्पूर्ण रूप से सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील प्रवृत्ति के रूप में प्रस्तावित करते हैं, जो व्यावहारिक प्रयोग, वैज्ञानिक ज्ञान या प्रौद्योगिकी की सहायता के साथ, अपने वातावरण का निर्माण करने, इसमें सुधार लाने और इसे नयी आकृति प्रदान करने की मानव जाति की शक्ति की पुष्टि करता है।

इस दृष्टिकोण से, आधुनिकतावाद ने वाणिज्य से दर्शन तक अस्तित्व के प्रत्येक पहलू की पुनः परीक्षा को प्रोत्साहित किया, जिसका लक्ष्य यह पता लगाना था कि प्रगति में किस वजह से रूकावट पैदा हो रही थी और उसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए इसकी जगह नए तरीकों का इस्तेमाल किया।

अन्य आधुनिकतावाद को एक सौंदर्यात्मक आत्मनिरीक्षण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रथम विश्व युद्ध में प्रौद्योगिकी के उपयोग की विशिष्ट प्रतिक्रियाओं और नीत्शे से सैमुएल बेकेट के समय के विभिन्न विचारकों और कलाकारों की रचनाओं के प्रौद्योगिकी-विरोधी एवं शून्यवादी पहलुओं के सोच-विचार को सहज बनाता है।

आधुनिकतावाद का इतिहास

शुरूआत

यूजीन डेलाक्रोइक्स की लिबर्टी लीडिंग द पीपल, 1830, एक रोमांटिक कलाकृति।

उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध में यूरोप में अनगिनत युद्ध और क्रांति हुए, जिसने राजनीतिक एवं सामाजिक विखंडन की वास्तविकताओं से 'अलग' एक सौन्दर्यपरक परिवर्तन में योगदान दिया और इस तरह स्वच्छंदतावाद – व्यक्तिगत व्यक्तिपरक अनुभव पर जोर, उदात्त, कला के एक विषय के रूप में 'प्रकृति' की सर्वोच्चता, अभिव्यक्ति का क्रान्तिकारी या कट्टरपंथी विस्तार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता – की तरफ एक झुकाव को सहज बनाया, हालांकि, इस सदी के मध्य तक, आंशिक रूप से 1848 के प्रेमपूर्ण एवं लोकतांत्रिक क्रांतियों की विफलता के प्रतिक्रियास्वरूप, स्थिर शासी रूपों के साथ इन विचारों का एक संश्लेषण प्रकट हुआ था। ओट्टो वॉन बिस्मार्क की रियलपोलिटिक और प्रत्यक्षवाद जैसे 'व्यावहारिक' दार्शनिक विचारों द्वारा इसे उदाहरण के साथ

समझाया गया। विभिन्न नामों वाले-ग्रेट ब्रिटेन में इसे 'विक्टोरियन युग' नाम दिया गया है—इस स्थायीकरण संश्लेषण की जड़ इस विचार में थी कि व्यक्तिपरक प्रभावों पर वास्तविकता हावी है।

इस संश्लेषण के बीच में सन्दर्भ की आम मान्यताएं और संस्थागत रचनाएं थीं, जिसमें ईसाई धर्म में पाई जाने वाली धार्मिक दृष्टि, पारंपरिक भौतिकी में पाए जाने वाले वैज्ञानिक दृष्टि और कुछ ऐसे सिद्धांत भी शामिल थे, जो इस बात पर जोर देते थे कि एक वस्तुनिष्ठ मानदंड से बाहरी वास्तविकता का चित्रण केवल संभव ही नहीं, बल्कि वांछनीय भी था। संस्कृति आलोचक एवं इतिहासकार सिद्धांतों के इस समूह पर यथार्थवाद का लेबल लगाते हैं, हालांकि यह शब्द सार्वभौमिक नहीं है। दर्शन में, बुद्धिवादी, भौतिकवादी और प्रत्यक्षवादी आन्दोलनों ने कारण एवं प्रणाली की एक प्रधानता की स्थापना की।

विचारों की एकशृंखला के वर्तमान चलन के खिलाफ, उनमें से कुछ प्रेमपूर्ण वैचारिक स्कूलों की निरंतरता को निर्देशित करते हैं। इनमें से प्लास्टिक कला एवं कविता (जैसे - पूर्व-रफेलवादी भाईचारे एवं दार्शनिक जॉन रस्किन) में कृषि एवं धार्मिक पुरुत्थानवादी आन्दोलन उल्लेखनीय थे। बुद्धिवाद ने भी दर्शन में तर्कवादी-विरोधियों की प्रतिक्रिया को आकर्षित किया। विशेष रूप से, हेगेल की सभ्यता एवं इतिहास सम्बन्धी द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण ने फ्रेडरिक नीत्शे और सोरेन कियर्कगार्ड की प्रतिक्रियाओं को आकर्षित किया, जो अस्तित्ववाद के प्रमुख प्रेरणा थे। इनमें से सभी अलग-अलग प्रतिक्रियाओं ने एकसाथ सभ्यता, इतिहास, या शुद्ध कारण द्वारा व्युत्पन्न निश्चितता की किसी भी आरामदायक विचारों के लिए एक चुनौती प्रदान करता हुआ दिखाई देने लगा।

1870 के दशक के बाद से इन विचारों पर उत्तरोत्तर प्रहार होता रहा कि इतिहास एवं संभ्यता स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील थे और यह भी कि प्रगति सदैव अच्छी होती थी। समकालीन सभ्यता पर अपनी आलोचनात्मक लेखों और उन चेतावनियों के लिए वैगनर एवं इब्सन जैसे लेखकों की काफी भर्त्सना की गई थी कि त्वरक 'प्रगति' सामाजिक मूल्यों से अलग और अपने साथियों से पृथक व्यक्तियों के निर्माण का नेतृत्व करती थी। बहस होने लगी कि कलाकार और समाज के मूल्य केवल अलग ही नहीं थे, बल्कि समाज प्रगति के प्रति विरोधात्मक भी थे और यह अपने वर्तमान रूप में आगे नहीं बढ़ सकता था। दार्शनिकों ने पिछले आशावाद पर प्रश्न उठाया। शोपेनहावर के कृत्यों पर इसके

'इच्छा का निषेध' विचार के लिए 'निराशावादी' का लेबल लग गया, यह एक ऐसा विचार था, जिसे नीत्शे जैसे परवर्ती विचारकों द्वारा अस्वीकार भी किया गया और अंतर्भुक्त भी किया गया।

इस अवधि के सबसे महत्त्वपूर्ण विचारकों में से दो विचारक – जीव विज्ञान में चार्ल्स डार्विन और राजनीति विज्ञान में कार्ल मार्क्स थे। डार्विन की प्राकृतिक चयन के आधार पर विकास के सिद्धांत ने आम जनता की धार्मिक निश्चितता और बुद्धिजीवियों की मानव अद्वितीयता की भावना को ठेस पहुँचाई, मानव जाति 'छोटे-छोटे जानवरों' की तरह के एकसमान आवेगों से संचालित थी, एक उदात्त आध्यात्मिकता के विचार के साथ सामंजस्य स्थापित करने में यह धारणा काफी मुश्किल साबित हुई। कार्ल मार्क्स का तर्क था कि पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर कुछ मौलिक विरोधाभास थे और यह भी कि श्रमिक कुछ भी मगर आजाद थे। दोनों विचारकों ने रक्षकों और वैचारिक समूह को जन्म दिया, जो आधुनिकतावाद की स्थापना में निर्णायक बन गए।

इतिहासकारों ने आधुनिकतावाद के शुरूआती अंकों के रूप में विभिन्न तारीखों का सुझाव दिया है। विलियम एवरडेल ने तर्क दिया है कि आधुनिकतावाद की शुरुआत 1872 में रिचर्ड डेडेकिंड की वास्तविक संख्या रेखा के विभाजन और 1874 में बोल्ट्जमन की सांख्यिकीय ऊष्मप्रवैगिकी से हुई। क्लेमेंट ग्रीनबर्ग ने इमानुएल कान्त को 'प्रथम वास्तविक आधुनिकतावादी' कहा, लेकिन साथ में यह भी लिखा, 'जिसे सुरक्षित रूप से आधुनिकतावाद कहा जा सकता है, उसका प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत स्थानीय तौर पर फ्रांस में साहित्य में बौडेलेर और चित्रकला में मानेट और गद्य कल्पना में शायद फ्लौबर्ट के साथ अंतिम सदी के मध्य में हुआ था। (कुछ देर बाद और इतना स्थानीय तौर पर नहीं, कि आधुनिकतावाद संगीत और वास्तुकला में दिखाई दिया).' शुरू में, आधुनिकतावाद को 'कला-अग्रणी' कहा जाता था और यह शब्द ऐसी गतिविधियों का वर्णन करता रहा जो अपने आपको परंपरा या यथास्थिति के कुछ पहलुओं को उखाड़ फेंकने का प्रयास करने वाले के रूप में पहचान करती हैं।

अलग से, कला और पत्रों में, फ्रांस में उत्पन्न होने वाले दो विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा. इनमें से पहला प्रभाववाद अर्थात् एक चित्रकला समूह था जो शुरू में बाहर में (en plein air), न कि स्टूडियो में, किए गए काम पर ध्यान देता था। प्रभाववादी चित्र प्रदर्शन करते थे कि मानव जाति वस्तुओं को नहीं देखती है, बल्कि इसकी जगह इसके स्वयं के प्रकाश को देखती है। इस समूह

ने अपने प्रमुख चिकित्सकों के दरम्यान आतंरिक प्रभागों के बावजूद अनुयायियों को इकठ्ठा किया और तेजी से प्रभावशाली बन गया। उस समय शुरू में सबसे महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक प्रदर्शन से अस्वीकृत, सरकार द्वारा प्रायोजित पेरिस सैलून नामक प्रभाववादियों ने 1870 और 1880 के दशक के दौरान वाणिज्यिक स्थलों में वार्षिक सामूहिक प्रदर्शनियों का आयोजन किय,जिसने उन्हें सरकारी सैलून के साथ बराबरी करने का मौका दिया। 1863 का एक महत्त्वपूर्ण सैलून – सैलून डेस रिफ्यूजेज था, जिसका निर्माण शासक नेपोलियन तृतीय ने पेरिस सैलून द्वारा अस्वीकृत सभी चित्रकलाओं का प्रदर्शन करने के लिए किया था। जबकि उनमें से अधिकांश चित्रकलाएं मानक शैलियों में निर्मित थीं, लेकिन गौण कलाकारों की, मानेट की रचना ने जबरदस्त आकर्षण प्राप्त किया और आन्दोलन के लिए वाणिज्यिक दरवाजे खोल दिए।

ओडिलन रेडन, गार्जियन स्पिरिट ऑफ द वॉटर्स, 1878, चारकोल ऑन पेपर, द आर्ट इंस्टिट्यूट ऑफ शिकागो।

दूसरा स्कूल प्रतीकवाद था, जो एक विश्वास द्वारा चिह्नित था कि भाषा स्पष्ट रूप से अपनी प्रकृति और देशभक्ति के एक चित्रण में प्रतीकात्मक होता है और यह भी कि कविता और लेखन को संयोजनों का अनुसरण करना चाहिए, जो शब्दों की प्रवण ध्वनि एवं संरचना से निर्मित होता है। कवि स्टीफन मलार्मी को उसके लिए विशेष महत्त्व दिया गया, जो बाद में घटित हुआ।

उस समय सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियां कार्यरत थीं, जो मौलिक रूप से विभिन्न प्रकार कला और सोच के लिए तर्क का आधार बन गईं, इनमें से मुख्य – वाष्प संचालित औद्योगीकरण था, जिसने ऐसे-ऐसे भवनों का निर्माण किय,जिन्होंने नए औद्योगिक सामग्रियों में कला और इंजीनियरिंग को एक सूत्र में बांध दिया, जैसे – ढलवा लोहा, जिसका इस्तेमाल रेलमार्ग के पुलों और सीसे एवं लोहे से बने ट्रेन की छावनियों का निर्माण करने के लिए किया गया। या आइफल टॉवर, जिसने सभी पिछली सीमाबद्धताओं को तोड़ दिया कि मानव निर्मित वस्तुएं कितनी लम्बी हो सकती थी-और उसी समय मौलिक रूप से शहरी जीवन में एक अलग वातावरण प्रस्तुत किया।

विषयों की वैज्ञानिक परीक्षा से पैदा होने वाले औद्योगिक शहरीवाद के दु:खों और संभावनाओं की वजह से कई परवर्तन हुए, जिसने यूरोपीय सभ्यता को हिलाकर रख दिया, जो उस समय तक अपने आपको नवजागरण से विकास की सतत एवं प्रगतिशील रेखा का पोषक मानता था। टेलीग्राफ द्वारा एक नई

शक्ति को काम में लगाने के साथ, कुछ दूरी से तत्काल संचार की सुविधा प्रदान करके, समय का अनुभव खुद-ब-खुद बदल गया।

कई आधुनिक शास्त्रों (उदाहरण के लिए, भौतिकी, अर्थशास्त्र और कला, जैसे - नृत्य-नाट्य और वास्तुकला) ने अपने पूर्व-बीसवीं सदी रूपों को 'शास्त्रीय' रूप में निरूपित किया। यह अंतर उन परिवर्तनों के क्षेत्र को दर्शाता है, जो इस अवधि के दौरान बड़े पैमाने पर होने वाली वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ हुआ था।

सदी परिवर्तन

हेनरी मैटिस, ले बोन्ह्यूर डे विवरे, 1905-6, बार्न्स फाउंडेशन, मेरियन, पीए. एक आरंभिक फौविस्ट मास्टरपीस.

1890 के दशक में सोच की एक लड़ी ने इस बात पर जोर देना शुरू कर दिया कि वर्तमान तकनीकों के प्रकाश में अतीत के ज्ञान की केवल पुनरावृत्ति करने के बजाय, पिछले मानदंडों को सम्पूर्ण रूप से एक तरफ हटाने की जरूरत थी। कला के क्षेत्र में अपना सिर उठाने वाला आन्दोलन भौतिकी में सापेक्षता का सिद्धांतय आतंरिक दहन इंजन एवं औद्योगीकरण का बढ़ता एकीकरणय और सार्वजनिक नीति में सामाजिक विज्ञान की वर्धित भूमिका जैसे विकासों के साथ-साथ चलता रहा, यह तर्क दिया जाता था कि, यदि वास्तविकता की प्रकृति खुद सवालों के घेरों में थी और यदि मानव गतिविधि के आस-पास व्याप्त प्रतिबंधों में कमी आ रही थी, तो कला में भी मौलिक रूप से परिवर्तन होगा। इस प्रकार, बीसवीं सदी के प्रथम पंद्रह वर्षों में कई श्रृंखलाबद्ध लेखकों, विचारकों और कलाकारों ने साहित्य, चित्रकला, एवं संगीत का आयोजन करने के पारंपरिक साधनों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

सिगमंड फ्रायड एवं अर्न्स्ट माक के सिद्धांत आधुनिकता की इस लहर में शक्तिशाली प्रेरणास्रोत थे, जिन्होंने 1880 के दशक के आरंभिक दौर में तर्क दिया था कि मस्तिष्क की एक मौलिक संरचना होती थी और यह भी कि व्यक्तिपरक अनुभव इसी मस्तिष्क के भागों की परस्पर क्रिया पर आधारित था। फ्रायड के विचारों के अनुसार सभी व्यक्तिपरक वास्तविकता मूल प्रेरणा और सहज ज्ञान की भूमिका पर आधारित थी, जिसके जरिए बाहरी दुनिया की कल्पना की गई थी। अर्न्स्ट माक ने विज्ञान में एक प्रसिद्ध दर्शन विकसित किया, जिसे अक्सर 'प्रत्यक्षवाद' कहा जाता था, जिसके अनुसार प्रकृति में

वस्तुओं के संबंधों की कोई गारंटी नहीं थी, बल्कि इन्हें केवल एक प्रकार की मानसिक आशुलिपि के माध्यम से ही जाना जाता था। इसने अतीत से एक अलगाव का प्रतिनिधित्व किया, जिसमें पहले यही माना जाता था कि बाहरी एवं निरपेक्ष वास्तविकता अपने आप, जैसी यह थी, एक व्यक्ति पर पर प्रभाव डाल सकती थी, जैसे कि, उदाहरण के तौर पर, जॉन लोके का अनुभववाद, एक अछूते युवा मस्तिष्क के रूप में शुरुआत करने वाले मस्तिष्क के साथ होता था। फ्रायड के व्यक्तिपरक दशाओं के वर्णन, जिसमें प्रतिसंतुलनीय स्व-अधिरोपित प्रतिबंधों और आरंभिक आवेगों से भरा हुआ एक अचेत मस्तिष्क शामिल था, को कार्ल जंग ने एक सामूहिक अचेत को अनुबंधित करने के लिए प्राकृतिक सार में एक विश्वास के साथ संयुक्त कर दिया जो मूल पदार्थ अध्ययन से भरा हुआ था कि सचेत मस्तिष्क लड़ते या गले लगाते थे। डार्विन की रचना ने लोगों के मन में 'मानव, पशु' की अवधारणा को प्रस्तुत किया था और जंग के दृष्टिकोण ने सुझाव दिया कि सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करने के प्रति लोगों के आवेग बचपना या अज्ञानता का फल नहीं था, बल्कि मानव पशु के आवश्यक से व्युत्पन्न था।

फ्रेडरिक नीत्शे एक ऐसे दर्शन के पक्षपाती थे जिसमें बल, खघस तौर पर शक्ति प्रदान करने की इच्छा', तथ्यों और बातों से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इसी तरह, हेनरी बर्गसन की रचनाएं वास्तविकता की स्थैतिक अवधारणाओं पर महत्त्वपूर्ण 'जीवन बल' की पक्षपाती थी। ये सभी लेखक विक्टोरियन प्रत्यक्षवाद और निश्चितता के एक रोमांटिक अविश्वास के जरिए एकजुट हुए। इसके बजाय उन्होंने इसका पक्ष लिया, या, फ्रायड के मामले में, तर्कसंगतता या परिपूर्णता की दृष्टि से तर्कहीन सोच की प्रक्रियाओं को समझाने का प्रयास किया। यह परिपूर्ण शब्दों में सोच के प्रति सदियों से चली आ रही, प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ था, जिसमें तंत्र-मन्त्र में एक वर्धित रुचि और 'प्राणशक्ति' शामिल थी।

स्वच्छंदतावाद से व्युत्पन्न विचारों की इस टक्कर और अब तक अज्ञात तथ्य को समझाने के लिए एक तरीका ढूंढ निकालने के एक प्रयास के फलस्वरूप रचनाओं की पहली लहर का आगमन हुआ, जिसने, जबकि इन रचनाओं के लेखक अपनी रचनाओं को कला में व्याप्त मौजूदा रूझान का विस्तार मानते थे, आम जनता के साथ व्याप्त अनुबंध को तोड़ दिया कि कलाकार बुर्जुआ संस्कृति एवं विचारों के व्याख्याता और प्रतिनिधि थे। इन 'आधुनिकतावादी' घटनाओं में 1908 में अर्नोल्ड शोएनबर्ग के सेकण्ड स्ट्रिंग क्वार्टेट अतान का अंत,

1903 में वैसिली कैंडिंस्की अभिव्यंजनावादी चित्रकलाओं का आरम्भ एवं 1911 में म्यूनिख में ब्लू राइडर समूह की स्थापना और उनकी पहली अमूर्त चित्रकला के साथ समाप्ति और 1900 एवं 1910 के बीच के वर्षों में हेनरी मैटिस, पाब्लो पिकासो, जॉर्ज्स ब्रेक एवं अन्य के स्टूडियो से फौविज्म का उत्थान एवं घनवाद का अविष्कार शामिल है।

आधुनिक गतिविधि की इस लहर ने बीसवीं सदी के पहले दशक में अतीत से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और विभिन्न कलारूपों को एक क्रन्तिकारी तरीके से फिर से परिभाषित करने का प्रयास किया। इस आन्दोलन के साहित्यिक खंड (या, कुछ हद तक, इन आन्दोलनों) के भीतर अग्रणी प्रकाशों में शामिल हैं–

राफेल अल्बर्टी
गैब्रिएल डीश्अनुंजियो
गिलौम अपोलिनेयर
लुई आरागॉन
डीजुना बार्न्स
बर्टोल्ट ब्रेक्ट
बेसिल बंटिंग
इवान कैंकर
मारियो डे सा-कार्नीरो
कॉन्स्टैन्टाइन पी. कैवेफी
ब्लैस सेंड्रर्स
जीन कोक्टो
जोसेफ कॉनरैड
टी. एस. ईलियट
पॉल एलुअर्ड
विलियम फौल्क्नेर
ई. एम. फोर्स्टर
एच. डी.
अर्नेस्ट हेमिंग्वे
ह्यूगो वॉन होफ्मंस्थल
मैक्स जैकब

जेम्स जॉयस
फ्रैंज काफ्का
डी. एच. लौरेंस
वाइंडहम लुईस
फेडेरिको गार्सिया लोर्का
ह्यूग मैकडिअर्मिड
मरियन मूर
रॉबर्ट मुसिल
अल्माडा नेग्रीरोस
लुइगी पिरांडेलो
एज्रा पाउंड
मार्सेल प्राउस्ट
पियरे रेवर्डी
रेनर मारिया रिल्क
गेर्ट्रुड स्टीन
वॉलेस स्टीवंस
इटालो स्वेवो
ट्रिस्टन त्जारा
गियूसेप उंगरेटी
पॉल वैलेरी
रॉबर्ट वॉल्सर
विलियम कार्लोस विलियम्स
वर्जीनिया वुल्फ
विलियम बटलर येट्स

शोएनबर्ग, स्ट्राविंस्की और जॉर्ज ऐंथील जैसे संगीतकार संगीत में आधुनिकतावाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। गुस्टाव क्लिम्ट, हेनरी रूसो, वैसिली कैंडिंस्की, पाब्लो पिकासो, हेनरी मैटिस, जॉर्ज्स ब्रेक, मार्सेल डुचौम्प, जियोर्जियो डी चिरिको, जुआन ग्रिस, पीट मोंड्रियन जैसे कलाकार और लेस फौवेस, घनवाद, डाडा एवं अतियथार्थवाद जैसी आन्दोलन दृश्य कला में आधुनिकतावाद की विभिन्न लय का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि फ्रैंक लॉयड राइट, ले कोर्बिजियर, वॉल्टर ग्रोपियस, एवं मिएस वैन डेर रोहे जैसे-वास्तुकारों और

डिजाइनरों ने रोजमर्रा के शहरी जीवन में आधुनिकतावादी विचारों को सामने लाया। कलात्मक आधुनिकतावाद ने इस गतिविधि के बाहर की हस्तियों को प्रभावित कियाय उदाहरण के लिए, जॉन मेनार्ड कीन्स, ब्लूम्सबरी समूह के वूल्फ और अन्य लेखकों के मित्र थे।

विस्फोट, 1910-1930

प्रथम विश्व युद्ध की पूर्व संध्या को, 1905 की रूसी क्रांति और 'कट्टरपंथी' दलों के क्षोभ में दिखाई देने वाले, सामाजिक व्यवस्था के साथ एक बढ़ते तनाव और बेचैनी को हर माध्यम में कलात्मक कृत्यों में प्रकट हुआ, जिसने मौलिक रूप से पिछली प्रथा को सरलीकृत या अस्वीकृत कर दिया। पाब्लो पिकासो और हेनरी मैटिस जैसे युवा चित्रकार चित्रकलाओं के निर्माण के साधन के रूप में परंपरागत दृष्टिकोणों को अस्वीकृत करके पिछली प्रथा पर आघात कर रहे थे–यह एक ऐसा कदम था जिसे किसी भी प्रभाववादी, यहां तक कि सिजेन ने भी, नहीं उठाया था। 1907 में, पिकासो अपने डेमोइसेलेस डीए विगनन की चित्रकारी कर रहे थे, ओस्कर कोको का अपने मोर्डर, होफनंग डेर फ्रौएन (मर्डरर, होप ऑफ वीमन अर्थात् हत्यारा, महिलाओं की उम्मीद) का लेखन कर रहे थे, जो पहला अभिव्यंजनावादी नाटक था (जिसे 1909 में घोटाले के साथ प्रस्तुत किया गया था) और अर्नोल्ड शोएनबर्ग अपने स्ट्रिंग क्वॉर्टेट 2 इन एफ-शार्प माइनर की संगीत रचना कर रहे थे, जो उनकी पहली 'तानगत केंद्र रहित' संगीत रचना थी। 1911 में, कैंडिंस्की ने बिल्ड मिट क्रेईस (पिक्चर विथ ए सर्कल अर्थात एक केंद्र युक्त तस्वीर) की चित्रकारी की, जिसे उन्होंने बाद में प्रथम अमूर्त चित्रकला कहा. 1913 मेंकजो एडमंड हसर्ल के आइडियाज, नील्स बोहर की प्रमात्रित परमाणु, एज्रा पाउंड द्वारा बिम्बवाद की स्थापना, न्यूयॉर्क में आर्मरी शो और, सेंट पीटर्सबर्ग में, 'प्रथम भविष्यवादी ओपेरा,' एलेक्सी क्रुचेनीख, वेलिमिर ख्लेब्निकोव और कासिमिर मालेविच की विक्टरी ओवर द सन का वर्ष था–सर्गेई डायघिलेव और बैलेट्स रुसेस के लिए पेरिस में काम करने वाले एक अन्य रूसी संगीतकार आइगर स्ट्राविंस्की ने एक नृत्य-नाटक के लिए द राईट ऑफ स्प्रिंग की संगीत-रचना की, जिसका नृत्य-निर्देशन वास्लव निजिंस्की ने किया था और जो मानव बलिदान को दर्शाता था।

इन गतिविधियों ने उसे एक नया अर्थ देना शुरू कर दिया जिसे 'आधुनिकतावाद' की संज्ञा दी गईरू इसने जीव विज्ञान से लेकर काल्पनिक चरित्र के विकास और फिल्म निर्माण तक हर चीज में अनिरंतरता और अस्वीकार्य निर्विन परिवर्तन को गले लगाया, इसने साहित्य एवं कला में सरल यथार्थवाद में विन, अस्वीकृति या उससे बाहर गमन करने की और संगीत में रागिनी को अस्वीकृत करने या नाटकीय ढंग से इसमें फेरबदल करने की मंजूरी दी. इसने आधुनिकतावादियों को 19वीं सदी के कलाकारों से अलग कर दिया, जो केवल निर्विन परिवर्तन ('क्रन्तिकारी' की अपेक्षा 'विकासात्मक') में ही नहीं, बल्कि ऐसे परिवर्तन की प्रगतिशीलता-'प्रगति'-में भी विश्वास करने की प्रवृत्ति रखते थे। डिकेंस और टॉल्स्टॉय जैसे लेखक, टर्नर जैसे चित्रकार और ब्राहम्स जैसे संगीतकार 'कट्टरपंथी' या 'बोहेमियाई' नहीं थे, बल्कि समाज के मूल्यवान सदस्य थे जिन्होंने कला का निर्माण किया, जिसे समाज में, यहां तक कि कभी-कभी इसके कम वांछनीय पहलुओं की प्रत्यालोचना करते समय भी, शामिल किया गया। आधुनिकतावाद, जबकि अभी भी 'प्रगतिशील,' ने उत्तरोत्तर परंपरागत रूपों और परंपरागत सामाजिक व्यवस्थाओं को निरोधक प्रगति के रूप में देखा और इसलिए कलाकार को ज्ञानवर्धक के बजाय अपदस्थ, क्रन्तिकारी के रूप में फिर से ढाल दिया।

भविष्यवाद इस प्रवृत्ति की मिसाल देता है। 1909 में, पेरिस के अखबार ले फिगारो ने एफ. टी. मारिनेटी के प्रथम घोषणापत्र को प्रकाशित किया। इसके तुरंत बाद चित्रकारों (गियाकोमो बल्ला, अम्बर्टो बोक्सियोनी, कार्लो कार्रा, लुइगी रुसोलो और गिनो सेवेरिनी) के एक समूह ने भविष्यवादी घोषणापत्र पर सह-हस्ताक्षर किया। पिछली सदी के प्रसिद्ध 'साम्यवादी घोषणापत्र' के मॉडल पर तैयार किए गए ऐसे घोषणापत्रों ने उन विचारों को प्रस्तुत किया, जिसका तात्पर्य अनुयायियों को उत्तेजित करना और उन्हें एकत्र करना था। बर्गसन एवं नीत्शे से काफी प्रभावित भविष्यवाद विन की आधुनिकतावादी युक्तिकरण की सामान्य प्रवृत्ति का हिस्सा था।

आधुनिकतावादी दर्शन और कला को अभी भी बृहत्तर सामाजिक गतिविधि के केवल एक भाग के रूप में देखा जाता था। क्लिम्ट एवं सिजेन जैसे कलाकार और माहलर एवं रिचर्ड स्ट्रॉस जैसे संगीतकार 'भयानक रूप से आधुनिक' थे—कला-अग्रणियों से कोसों दूर रहने वाले ,जिनके बारे में बहुत ज्यादा कहा-सुना जाता था। रैखिकीय या विशुद्ध अमूर्त चित्रकारी के पक्ष में

विवादात्मक तथ्य ज्यादातर छोटे-छोटे परिसंचारानों वाली 'छोटी-छोटी पत्रिकाओं' (ब्रिटेन की द न्यू एज की तरह) तक ही सीमित थे। आधुनिकतावादी आदिमवाद और निराशावाद विवादास्पद थे, लेकिन उन्हें एडवर्डियाई मुख्यधारा के प्रतिनिधि के रूप में नहीं देखा जाता था, जिनका रूझान बहुत हद तक प्रगति और उदार आशावाद में एक विक्टोरियन विश्वास की तरफ था।

इलस्ट्रेशन ऑफ स्पिरिट ऑफ सेंट लुइस

हालांकि, महान युद्ध और उसके बाद की दुर्घटनाएं प्रलयकारी उत्थान थीं जिसे लेकर 19वीं सदी के अंतिम दौर के ब्राहम्स जैसे कलाकार चिंतित ,और जिसे कला-अग्रणीवादियों ने गले लगा लिया था। सबसे पहले, पिछली यथापूर्व स्थिति की विफलता एक पीढ़ी के लिए स्व-साक्ष्य प्रतीत हुआ जिसने लाखों लोगों को धरती के टुकड़ों के लिए लड़ते-मरते देखा था। युद्ध से पहले, तर्क दिया गया था कि कोई ऐसा युद्ध नहीं लड़ेगा, क्योंकि इसकी लागत बहुत ज्यादा थी। दूसरा, मशीन युग के आगमन ने जीवन की परिस्थितियों को बदल दिया। मशीन युद्ध अंतिम वास्तविकता का एक कसौटी बन गया। अंत में, अनुभव की बेहद दर्दनाक प्रकृति ने बुनियादी मान्यताओं को धराशायी कर दिया—यथार्थवाद दिवालिया प्रतीत हुआ जब इसका सामना खाई युद्ध की मौलिक अतिकाल्पनिक प्रकृति से हुआ, जिसका उदाहरण एरिच मारिया रेमार्क की ऑल क्वाईट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट जैसी पुस्तकों द्वारा दिया गया था। इसके अलावा, मानव जाति धीमी और निरंतर नैतिक प्रगति कर रही थी, यह दृष्टिकोण अर्थहीन हत्या के सामने हास्यास्पद लगने लगा. प्रथम विश्व युद्ध ने प्रौद्योगिकी की कठोर यांत्रिक रैखिकीय समझदारी को मिथक की भयानक तर्कहीनता से भुला दिया।

आन्ड्रे मैसन, पेडस्टल टेबल इन द स्टूडियो 1922, अतियथार्थवाद का आरंभिक उदाहरण इस प्रकार आधुनिकता, जो युद्ध से पहले एक अल्पसंख्यक रुचि थी, 1920 के दशक को परिभाषित करने लगा। यह यूरोप में डाडा जैसे माहत्वपूर्ण आन्दोलनों के रूप में और उसके बाद अतियथार्थवाद के रूप में रचनात्मक आन्दोलनों में और साथ-ही-साथ ब्लूम्सबरी ग्रुप जैसे अपेक्षाकृत छोटी गतिविधियों में प्रकट हुआ। इनमें से प्रत्येक 'आधुनिकतावाद,' जैसा कि कुछ प्रेक्षकों ने उस समय इस पर जो लेबल लगाया था, ने नए परिणाम देने के लिए नए-नए तरीकों पर जोर दिया। फिर, प्रभाववाद एक अग्रदूत साबित हुआ, जिसने राष्ट्रीय स्कूलों के विचार से सम्बन्ध तोड़ लिया, जिसे कलाकारों और लेखकों

ने अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलनों के विचारों के रूप में अपनाया था। अतियथार्थवाद, घनवाद, बौहौस और लेनिनवाद सभी उन आन्दोलनों के उदाहरण हैं, जिसने बड़ी तेजी से इसे अपनाने वालों को उनकी भौगोलिक मूल से कोसों दूर उन्हें स्थापित करते हैं।

प्रदर्शनी, थिएटर, सिनेमा, पुस्तक और इमारत सभी ने इस धारण को देखने के लोगों के नजरिए को माबूत करने का काम किया कि जमाना बदल रहा था। इन पर अक्सर प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं होती रहीं, जैसे – चित्रकलाओं पर थूका गया, रचनाओं के उद्घाटन पर दंगे हुए और राजनीतिक हस्तियों ने आधुनिकतावाद को अस्वास्थ्यकर और अनैतिक कहते हुए इसकी भर्त्सना की। उसी समय, 1920 के दशक को 'जैज युग' के नाम से जाना जाता था और जनता ने कार, हवाई यात्रा, टेलीफोन और अन्य प्रौद्योगिकीय उन्नति के प्रति काफी उत्साह दिखाया।

1930 तक, आधुनिकतावाद ने राजनीतिक और कलात्मक प्रतिष्ठानों सहित अन्य प्रतिष्ठानों में एक मुकाम हासिल कर लिया था, हालांकि इस समय तक आधुनिकतावाद खुद बदल गया था। 1918 के पहले के अहुनिक्तावाद के खिलाफ 1920 के दशक में एक सामान्य प्रतिक्रिया दिखाई पड़ी थी, जिसने इसके खिलाफ और उस अवधि के पहलुओं के खिलाफ विद्रोह करते समय अतीत के साथ इसकी निरंतरता पर जोर दिया, जो बहुत ज्यादा सभी, तर्कहीन और भावुकतावादी प्रतीत हुआ। विश्व युद्ध के बाद की अवधि ने शुरू में या तो व्यवस्थापन या शून्यवाद की तरफ रूख किया और से अपनी सबसे निदर्शनात्मक आन्दोलन, डाडा को प्राप्त किया था।

जबकि कुछ लेखकों ने नूतन आधुनिकतावाद के पागलपन पर प्रहार किया, अन्य लेखकों ने इसे निष्प्राण एवं यंत्रवत बताया।आधुनिकतावादियों के दरम्यान जनता के महत्त्व, दर्शकों के साथ कला के सम्बन्ध और समाज में कला की भूमिका को लेकर काफी विवाद था। आधुनिकतावाद में इसके सार्वभौमिक सिद्धांतों से लड़ने के प्रयास और इसी तरह की समझी जाने वाली स्थिति की कभी-कभी विरोधाभासी प्रतिक्रियाओं की एक श्रृंखला शामिल थी। अंत में अक्सर 18वीं सदी के ज्ञानोदय के मॉडल को ग्रहण करके विज्ञान और वैज्ञानिक चेतना, तर्क और स्थिरता के स्रोत के रूप दिखाई देने लगे, जबकि नूतन मशीन युग की प्रतीयमानत: सहजज्ञान-विरोधी कृत्यों के साथ-साथ बुनियादी आदिम यौन एवं अचेत प्रेरणाओं को मूल भावनात्मक पदार्थ के रूप में ग्रहण किया गया।

इन दो प्रतीयमान असंगत स्तंभों से आधुनिकतावादियों ने एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन को रूप देने के काम में लग गए, जिसमें जीवन के हर पहलू को अंतर्भुक्त करने की क्षमता थी।

दूसरी पीढ़ी, 1930-1945

1930 तक, आधुनिकतावाद ने लोकप्रिय संस्कृति में प्रवेश कर लिया था। आबादी के बढ़ते शहरीकरण के साथ, इसे तत्कालीन चुनौतियों से निपटने वाले स्रोत के रूप में देखा जाने लगा. जिस समय आधुनिकतावाद शैक्षिक समुदाय की तरफ आकर्षित हुआ, उस समय यह अपने स्वयं के महत्त्व के प्रति एक सजग सिद्धांत का विकास कर रहा था। लोकप्रिय संस्कृति, जो उच्च संस्कृति से नहीं बल्कि अपने स्वयं की वास्तविकताओं (विशेष रूप से विशाल उत्पादन) से व्युत्पन्न हुआ था, ने आधुनिकतावादी नवाचार को काफी प्रेरित किया। 1930 तक द न्यूयॉर्कर मैगजीन ने डोरोथी पार्कर, रॉबर्ट बेंचले, ई. बी. व्हाइट, एस. जे. पेरेलमैन और जेम्स थर्बर जैसे युवा लेखकों और हास्यकारों के नए और आधुनिक विचारों को प्रकाशित करना शुरू कर दिया। कला में आधुनिक विचार विज्ञापनों और लोगो में दिखाई दिए, जिसमें से सबसे प्रसिद्ध लन्दन अंडरग्राउंड लोगो था, जिसे एडवर्ड जॉन्स्टन ने 1919 में डिजाइन किया था, जो स्पष्ट, आसानी से पहचानने योग्य और यादगार दृश्य प्रतीकों की जरूरत का एक आरंभिक उदाहरण है।

इस समय का एक और शक्तिशाली प्रभाव मार्क्सवाद था। आम तौर पर प्रथम विश्व युद्ध से पहले के आधुनिकतावाद के आदिमवादात्मक-तर्कहीनवादी पहलू के बाद, जिसने कई आधुनिकतावादियों के लिए केवल राजनीतिक समाधानों के लिए किसी सम्बद्धता और 1920 के दशक के नवआभिजात्यवाद को प्रतिबंधित कर दिया, जिसे टी. एस. ईलियट और आइगर स्ट्राविंस्की ने काफी मशहूर तरीके से प्रदर्शित किया। जिसने आधुनिक समस्याओं के लिए लोकप्रिय समाधानों को अस्वीकृत कर दिया। फासीवाद का उदय, महामंदी और युद्ध यात्रा ने एक पीढ़ी को कट्टरपंथी बनाने में सहायता की। रूसी क्रांति ने अधिक स्पष्ट रूप से राजनीतिक रूख के साथ राजनीतिक कट्टरपंथ और काल्पनिकता के समेकन को उत्प्रेरित किया। बर्टोल्ट ब्रेक्ट, डब्ल्यू. एच. ऑडेन, आन्ड्रे ब्रेटन, लुईस आरागॉन और दार्शनिक - एंटोनियो ग्राम्स्की और वॉल्टर बिन्यामीन शायद इस आधुनिकतावादी मार्क्सवाद के सबसे प्रसिद्ध मिसाल हैं।

वाम कट्टरपंथी के लिए यह कदम, हालांकि, न तो सार्वभौमिक और न ही परिभाषात्मक था और आधुनिकतावाद, मौलिक रूप से, 'वामपंथ' के साथ, सहयोग करने की कोई विशेष वजह नहीं थी। स्पष्टतया 'दक्षिणपंथी' आधुनिकतावादियों में लुईस-फर्डिनांड सेलिन, साल्वाडोर डाली, वाइंडहम लुई, विलियम बटलर येट्स, टी. एस. ईलियट, एज्रा पाउंड, डच लेखक मेन्नो टेर ब्राक और कई अन्य शामिल हैं।

कायम रखने के लिए आधुनिक होना आवश्यक

इस अवधि के सर्वाधिक प्रत्यक्ष परिवर्तनों में से एक परिवर्तन - दैनिक जीवन में आधुनिक उत्पादन की वस्तुओं का ग्रहण था। बिजली, टेलीफोन, ऑटोमोबाइल और इन सबके साथ काम करने, इनकी मरम्मत करने और इनके साथ जीने की जरूरत-ने शिष्टाचार और सामाजिक जीवन के नए तौर-तरीकों का निर्माण किया। 1880 के दशक में विनकारी घटनाओं का होना बहुत आम बात हो गया था, जिसके बारे में बस कुछ ही लोग जानते थे। उदाहरण के लिए, 1890 के शेयर दलालों के लिए आरक्षित संचार की गति पारिवारिक जीवन का हिस्सा बन गई।

सामाजिक संगठन की तरफ ले जाने वाला आधुनिकतावाद यौन और संयुक्त परिवार के बजाय पृथक परिवार के बुनियादी सम्बन्ध की जांच-पड़ताल की जरूरतों को पैदा करता था। बचकानी कामुकता और बच्चों के पालन-पोषण की फ्रायडियाई तनाव ने और उग्र रूप धारण कर लिया, क्योंकि लोगों के पास बहुत कम बच्चे थे और इसलिए प्रत्येक बच्चे के साथ उनका अधिक विशिष्ट सम्बन्ध था-सैद्धांतिक, फिर से, व्यावहारिक और यहां तक कि लोकप्रिय भी बन गए।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आधुनिकतावाद (दृश्य एवं प्रदर्शन कला)

ब्रिटेन और अमेरिका में, एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में आधुनिकतावाद को आम तौर पर 1930 के दशक के आरम्भ तक प्रासंगिक माना जाता है और खास तौर पर 1945 के बाद के लेखकों के लिए शायद ही 'आधुनिकतावादी' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। यह कुछ हद तक दृश्य एवं प्रदर्शन कला को छोड़कर संस्कृति के सभी क्षेत्रों के लिए सच है।

युद्ध के बाद की अवधि ने आर्थिक और भौतिक दृष्टि से पुनर्निर्माण और राजनीतिक दृष्टि से पुनर्समूहीकरण की आवश्यकता के साथ यूरोप की राजधानियों को उथल-पुथल की हालत में छोड़ दिया। पेरिस में (यूरोपीय संस्कृति का पूर्व केंद्र और कला की दुनिया की पूर्व राजधानी) कला का माहौल एक मुसीबत थी। महत्त्वपूर्ण संग्रहकर्ता, डीलर और आधुनिकतावादी कलाकार, लेखक और कवि भागकर यूरोप के न्यूयॉर्क और अमेरिका चले गए थे। यूरोप के प्रत्येक सांस्कृतिक केंद्र के अतियथार्थवादी और आधुनिक कलाकार नाजियों के आक्रमण से बचने के लिए एक सुरक्षित आश्रय की तलाश में भागकर संयुक्त राज्य अमेरिका चले गए। जो लोग भाग नहीं पाए, उनमें से कईयों को खत्म कर दिया गया। कुछ कलाकार, खासकर पाब्लो पिकासो, हेनरी मैटिस और पियारे बोनार्ड, फ्रांस में जीवित बचे रहे।

1940 के दशक में न्यूयॉर्क शहर में अमेरिकी अमूर्त अभिव्यंजनावाद की जीत का उद्घोष हुआ, यह एक ऐसा आधुनिकतावादी आन्दोलन था जिसमें हेनरी मैटिस, पाब्लो पिकासो, अतियथार्थवाद, जोआन मिरो, घनवाद, फौविज्म और हंस होफ्मन एवं जॉन डी. ग्राहम जैसे अमेरिकी महान शिक्षकों के जरिए आरंभिक आधुनिकतावाद से सीखे गए सबक शामिल थे। अमेरिकी कलाकारों ने पीट मोंड्रियन, फर्नांड लेगर, मैक्स अर्न्स्ट और आंड्रे ब्रेटन समूह, पियारे मैटिस की गैलरी और पेगी गुगेंहीम की गैलरी द आर्ट ऑफ दिस सेंचुरी, के साथ-साथ अन्य कारकों की उपस्थिति का लाभ उठाया।

पोलक और अमूर्त प्रभाव

1940 के दशक के अंतिम दौर में चित्रकला के प्रति जैक्सन पोलक के कट्टरपंथी दृष्टिकोण ने उनका अनुसरण करने वाले सभी समकालीन कला की क्षमता में क्रन्तिकारी परिवर्तन ला दिया। कुछ हद तक पोलक को एहसास हुआ कि एक कलाकृति के निर्माण की यात्रा उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना कि खुद वह कलाकृति थी। घनवाद और निर्मित मूर्तिकला के जरिए सदी के मोड़ के पास चित्रकला और मूर्तिकला के प्रति पाब्लो पिकासो के अभिनव पुनर्खोज की तरह पोलक ने कला के निर्माण के तरीके को पुनर्परिभाषित किया। चित्रफलक चित्रकला और अभिसमय से दूर उनका स्थानांतरण उनके युग के कलाकारों और उनके बाद आने वाले सभी कलाकारों के लिए एक मुक्ति संकेत था। कलाकारों को एहसास हुआ कि जैक्सन पोलक की प्रक्रिया-फर्श पर संकुचित अपरिष्कृत

कैनवास को रखकर जहां कलात्मक और औद्योगिक सामग्रियों का इस्तेमाल करके इस पर चारों तरफ से आक्रमण किया जा सकता था, रैखिक रंग समूह को टपकाकर और फेंककरय चित्रकारी, रंगकारी और ब्रशिंग करके, कल्पना और गैर-कल्पना का इस्तेमाल करके ने अनिवार्य रूप से किसी भी पूर्व सीमा से परे कलाकारी में धमाकेदार वृद्धि की। अमूर्त अभिव्यंजनावाद ने आमतौर पर नई कलाकृतियों के निर्माण के लिए कलाकारों के लिए उपलब्ध परिभाषाओं और संभावनाओं को विस्तृत और विकसित किया। शुद्ध एवं जीवंत रंग के उपयोग वाली रचना का आदर्श रूप. अन्य अमूर्त अभिव्यंजनावादियों ने अपने खुद की नवीन सफलताओं के साथ पोलक की सफलता का अनुसरण किया। एक तरह से जैक्सन पोलक, विलेम डी कूनिंग, फ्रैंज क्लाइन, मार्क रोथ्को, फिलिप गुस्टन, हंस होफ्मन, क्लाइफोर्ड स्टिल, बार्नेट न्यूमैन, ऐड रीन्हार्ड, रॉबर्ट मदरवेल, पीटर वौल्कस और अन्य हस्तियों के नवाचारों ने उनका अनुसरण करने वाली सभी कला की विविधता और क्षेत्र के पूर-द्वार खोल दिए. हालांकि लिंडा नोच्लिन, ग्रिसेल्डा पोलक, और कैथरीन डे जेघर जैसे कला इतिहासकारों द्वारा अमूर्त कला के पुनर्पठन से आलोचनात्मक ढंग से पता चलता है कि आधुनिक कला में प्रमुख नवाचारों की शुरुआत करने वाली अग्रणी महिला कलाकारों को इसके इतिहास के आधिकारिक विवरणों द्वारा नजरंदाज कर दिया गया था।

अमूर्त अभिव्यंजनावाद के बाद 1960 के दशक में

1950 और 1960 के दशकों के दौरान अमूर्त अभिव्यंजनावाद के आत्मनिष्ठावाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में कट्टरपंथी कला-अग्रणी क्षेत्रों में और कलाकारों के स्टूडियो में अमूर्त चित्रकला में हार्ड-एज पेंटिंग और अन्य प्रकार के रैखिकीय सारग्रहण जैसी कई दिशाएं दिखाई देने लगी। क्लेमेंट ग्रीनबर्ग उत्तरचित्रकाररुपी सारग्रहण के आवाज बने जब उन्होंने 1964 में पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका में महत्त्वपूर्ण कला संग्रहालयों के दौरे वाले नूतन चित्रकला के एक प्रेरणात्मक प्रदर्शनी में सहयोग दिया। कलर फील्ड पेंटिंग, हार्ड-एज पेंटिंग और गीतात्मक सारग्रहण कट्टरपंथी नई दिशाओं के रूप में प्रकट हुए।

हालांकि 1960 के दशक के अंत तक, उत्तरअतिसूक्ष्मवाद, प्रक्रिया कला और आर्टे पोवेरा भी गीतात्मक सारग्रहण एवं उत्तरअतिसूक्ष्मवादी आन्दोलन के जरिए और आरंभिक वैचारिक कला में, क्रन्तिकारी अवधारणाओं और आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुए, जिसमें आरंभिक चित्रकला और मूर्तिकला दोनों समाविष्ट

थे। पोलक द्वारा प्रेरित प्रक्रिया कला ने कलाकारों को शैली, सामग्री, पदार्थ, स्थान, समयानुभव और प्लास्टिक एवं वास्तविक स्थान के एक विविध विश्वकोश पर प्रयोग करने और उसका इस्तेमाल करने में सक्षम बनाया. नैन्सी ग्रेव्स, रोनाल्ड डेविस, हावर्ड होड्गकिन, लैरी पून्स, जेनिस कौनेलिस, ब्राइस मार्डेन, ब्रूस नौमैन, रिचर्ड टटल, एलन सारेट, वॉल्टर डार्बी बनार्ड, लिंडा बेंगलिस, डैन क्रिस्टेंसन, लैरी जोक्स, रॉनी लैंडफील्ड, ईवा हेस, कीथ सोनियर, रिचर्ड सेर्रा, सैम गिलियम, मारियो मर्ज और पीटर रेगिनाटो कुछ ऐसे युवा कलाकार थे, जिनका उद्भव आधुनिकतावाद के अंतिम दौर के युग के दौरान हुआ था, जिन्होंने 1960 के दशक के अंतिम दौर की कला के उमंग को जन्म दिया।

पॉप कला

रॉय लिचेंस्टीन, व्हाम! (1963)

1962 में सिडनी जेनिस गैलरी ने न्यूयार्क शहर में एक अपटाउन आर्ट गैलरी में द न्यू रियलिस्ट्स नामक प्रथम प्रमुख पॉप कला समूह प्रदर्शनी का आयोजन किया। जेनिस ने 15 ई. 57वें स्ट्रीट पर स्थित अपनी गैलरी के पास 57वें स्ट्रीट पर एक स्टोर के सामने वाले हिस्से में इस प्रदर्शनी का आयोजन किया। इस कार्यक्रम ने न्यूयॉर्क स्कूल को हैरत में डाल दिया और सारी दुनिया पर छा गया। इंग्लैण्ड में बहुत पहले 1958 में 'पॉप कला' शब्द का इस्तेमाल लौरेंस एलोवे ने उन चित्रकलाओं का वर्णन करने के लिए किया था, जिसने उत्तर द्वितीय विश्व युद्ध युग के उपभोक्तावाद का जश्न मनाया था। इस आन्दोलन ने अमूर्त अभिव्यंजनावाद और विपुल उत्पादन युग के सामग्री उपभोक्ता संस्कृति, विज्ञापन और प्रतिमा विज्ञान का प्रदर्शन और अक्सर इनका अनुष्ठान करने वाले कला के पक्ष में व्याख्यात्मक और मनोवैज्ञानिक अंतरंग पर इसके ध्यान को अस्वीकार कर दिया। डेविड हॉक्नी के आरंभिक कृत्यों और रिचर्ड हैमिल्टन एवं एडुआर्डो पाओलोजी के कृत्यों को इस आन्दोलन के मौलिक उदाहरण माने जाते थे। इस बीच न्यूयॉर्क के ईस्ट विलेज के 10वें स्ट्रीट की गैलरियों के डाउनटाउन दृश्य में कलाकार पॉप कला के एक अमेरिकी संस्करण को सूत्रबद्ध कर रहे थे। क्लेस ओल्डेनबर्ग ने अपने स्टोर के सामने वाले हिस्से में और 57वें स्ट्रीट पर स्थित ग्रीन गैलरी में टॉम वेसेलमन और जेम्स रोसेनक्विस्ट की रचनाओं को

दिखाना शुरू किया। बाद में लियो कास्टेली ने अन्य अमेरिकी कलाकारों की रचनाओं का प्रदर्शन किया जिसमें एंडी वारहोल और रॉय लिचेंस्टीन द्वारा उनके करियर में निर्मित रचनाओं में से अधिकांश रचनाएं शामिल थीं। हास्य भावना के मालिक मार्सेल डुचौम्प एवं मैन रे नामक विद्रोही डाडावादियों और क्लेस ओल्डेनबर्ग, एंडी वारहोल, एवं रॉय लिचेंस्टीन जैसे पॉप कलाकारों के कट्टरपंथी कृत्यों के दरम्यान एक सम्बन्ध है, जिनकी चित्रकलाओं ने वाणिज्यिक पुनरुत्पादन में इस्तेमाल किए जाने वाले बेंडे डॉट्स नामक एक तकनीक के नजरिए का पुनरुत्पादन किया।

अतिसूक्ष्मवाद

1960 के दशक के आरम्भ तक कला में एक अमूर्त आन्दोलन के रूप में अतिसूक्ष्मवाद का उद्‌भव हुआ (जिसकी जड़ काजिमिर मालेविच, बौहौस और पीट मोंड्रियन के रैखिकीय सारग्रहण में थी) जिसने संबंधपरक और व्यक्तिपरक चित्रकला, अमूर्त अभिव्यंजनावादी सतहों की जटिलता और एक्शन पेंटिंग के क्षेत्र में मौजूद विवादात्मक कुशलता एवं भावनात्मक युगचेतना के विचार को त्याग दिया। अतिसूक्ष्मवाद ने तर्क दिया कि अत्यधिक सादगी कला में आवश्यक सभी विशिष्ट प्रदर्शन पर कब्जा कर सकती थी। फ्रैंक स्टेला जैसे चित्रकारों का सहयोग प्राप्त करने वाला, अन्य क्षेत्रों के विपरीत, चित्रकला के क्षेत्र में अतिसूक्ष्मवाद एक आधुनिकतावादी आन्दोलन है। अतिसूक्ष्मवाद को नाना प्रकार से या तो उत्तरआधुनिकतावाद का एक अग्रदूत, या खुद एक उत्तरआधुनिक आन्दोलन समझा जाता है। बाद वाले दृष्टिकोण में, आरंभिक अतिसूक्ष्मवाद ने उन्नत आधुनिकतावादी कृत्यों को जन्म दिया, लेकिन इस आन्दोलन ने आंशिक रूप से इस दिशा का त्याग कर दिया जब रॉबर्ट मॉरिस जैसे कुछ कलाकारों ने निर्माण-विरोधी आन्दोलन के पक्ष में दिशा परिवर्तन किया।

हिल फॉस्टर अपने द क्रुक्स ऑफ मिनिमलिज्म नामक निबंध में उस हद तक जांच करते हैं, जिस हद तक डोनाल्ड जुड और रॉबर्ट मॉरिस दोनों अतिसूक्ष्मवाद के अपने प्रकाशित परिभाषाओं में ग्रीनबर्गवादी आधुनिकतावाद को स्वीकार और उसका विस्तार करते हैं। वह तर्क देते हैं कि अतिसूक्ष्मवाद आधुनिकतावाद का एक 'मृत अंत' नहीं, बल्कि 'आज भी विस्तार किए जाने वाले उत्तरआधुनिक प्रथाओं का एक निदर्शनात्मक बदलाव' है।

उत्तर अति सूक्ष्मवाद

मध्य-अप्रैल 2005 में, शीर्ष रोजेल पॉइंट से स्मिथसन का 'स्पिरल जेटी' इसका निर्माण 1970 में किया गया था और यह आज भी मौजूद है, हालांकि यह झील के अस्थिर जल स्तर से अक्सर जलमग्न हो जाता है। इसमें लगभग 6500 टन बेसाल्ट, मिट्टी एवं नमक है।

1960 के दशक के अंतिम दौर में रॉबर्ट पिंकस-विटेन ने अतिसूक्ष्मवादी-व्युत्पन्न कला का वर्णन करने के लिए उत्तरअतिसूक्ष्मवाद शब्द की रचना की, जिसमें वे सामग्री और प्रासंगिक मकसदों निहित थे, जिन्हें अतिसूक्ष्मवाद ने त्याग दिया था। पिंकस-व्हिटेन ने ईवा हेस, कीथ सोनियर, रिचर्ड सेर्रा की रचनाओं और रॉबर्ट स्मिथसन, रॉबर्ट मॉरिस, एवं सोल लेविट जैसे पूर्व अतिसूक्ष्मवादियों और बैरी ले वा, एवं अन्य हस्तियों की नई रचनाओं के लिए इस शब्द का इस्तेमाल किया। डोनाल्ड जुड, डैन फ्लेविन, कार्ल आंड्रे, एग्नेस मार्टिन, जॉन मैकक्रैकेन और अन्य सहित अन्य अतिसूक्ष्मवादी अपने करियर की शेष अवधि तक अंतिम दौर की आधुनिकतावादी चित्रकला और मूर्तिकला का निर्माण करते रहे।

1960 के दशक में ला मोंटे यंग, फिलिप ग्लास, स्टीव रेच और टेरी रिले जैसे कला-अग्रणी अतिसूक्ष्मवादी संगीतकारों की रचनाओं ने भी न्यूयॉर्क के कला की दुनिया में प्रसिद्धि हासिल की उसके बाद से, कई कलाकारों ने अतिसूक्ष्मवादी और उत्तरअतिसूक्ष्मवादी शैलियों को अपनाया है और उन पर 'उत्तरआधुनिक' होने का लेबल लग गया है।

समुच्चित चित्रकला, संग्रह, अधिष्ठापन

रॉबर्ट रॉशनबर्ग की शीर्षकहीन रचना, 1963

चित्रकला एवं मूर्तिकला की पिछली परंपरा से दूर जाने वाले कलाकार सामग्रियों के साथ निर्मित वस्तुओं के संयोजन का उद्‌भव अमूर्त अभिव्यंजनावाद से संबंधित था। रॉबर्ट रॉशनबर्ग की कृति इस प्रवृत्ति की एक मिसाल है। 1950 के दशक के उनके 'जत्थे' पॉप कला और अधिष्ठापन कला के अग्रणी थे और भरे हुए जानवर, पक्षी और वाणिज्यिक तस्वीरों समेत बड़े-बड़े भौतिक वस्तुओं के संग्रह का इस्तेमाल करते थे। रॉशनबर्ग, जैस्पर जॉन्स, लैरी रिवर्स, जॉन चेम्बरलेन, क्लेस ओल्डेनबर्ग, जॉर्ज सेगल, जिम डाइन और एडवर्ड कीन्होल्ज की गिनती अमूर्त और पॉप दोनों तरह की कलाओं के प्रमुख अग्रदूतों में की जाती

थी। कला-निर्माण की नई परंपरा का निर्माण करके उन्होंने असम्भाव्य सामग्रियों की अपनी कृत्यों में कट्टरपंथी अंतर्वेशन के गंभीर समकालीन कला चक्रों को स्वीकार्य बना दिया। समुच्चित चित्रकला के एक और अग्रदूत जोसेफ कॉर्नेल थे, जिनके अतिपरिचित प्रवर्धित कृत्यों को उनके प्राप्त वस्तुओं के उपयोग और निजी प्रतिमा विज्ञान दोनों वजह से कट्टरपंथी रूप में देखा जाता था।

नव-डाडा

20वीं सदी के आरम्भ में मार्सेल डुचौम्प ने एक मूत्रालय को एक मूर्तिकला के रूप में प्रदर्शित किया। उन्होंने अपनी मंशा जाहिर करते हुए कहा कि लोग मूत्रालय को इस तरह से देखते हैं मानों यह एक कलाकृति हो, क्योंकि उन्होंने कहा कि यह एक कलाकृति थी। वह अपने कृत्य को 'रेडीमेड्स' कृत्य के रूप में सन्दर्भित करते थे। फाउन्टेन एक मूत्रालय था, जिस पर छद्म नाम आर. मट का हस्ताक्षर था, जिसकी प्रदर्शनी ने 1917 में कला की दुनिया को हैरानी में डाल दिया। इसे और डुचौम्प के अन्य कृत्यों पर आम तौर पर डाडा का लेबल लगा हुआ है। डुचौम्प को वैचारिक कला के एक अग्रदूत के रूप में देखा जा सकता है, अन्य प्रसिद्ध उदाहरणों में जॉन केज का 4'33' और रॉशनबर्ग का इरेज्ड डे कूनिंग का प्रमुख स्थान है, 4'33' चार मिनट तैंतीस सेकण्ड की चुप्पी है। कई विचारिक कृत्य स्थिति को ग्रहण करते हैं कि कला एक वस्तु को देखने वाले के नजरिए या कला के रूप में काम करने का परिणाम है, न कि खुद उस कृत्य की आतंरिक गुणवत्ता का। इस तरह, चूंकि फाउन्टेन का प्रदर्शन किया गया, यह एक मूर्तिकला थी।

मार्सेल डुचौम्प ने प्रसिद्धिपूर्वक शतरंज के पक्ष में 'कला' का परित्याग कर दिया। कला-अग्रणी संगीतकार डेविड ट्यूडर ने रीयूनियन (1968) नामक एक लेख की रचना की, जिसे उन्होंने लोवेल क्रॉस के साथ मिलकर लिखा था, जो एक ऐसे शतरंज के खेल को दर्शाता है, जिसमें प्रत्येक चाल एक प्रकाशवान प्रभाव या प्रक्षेपण को शुरू करता है। डुचौम्प और केज ने कृत्य के प्रीमियर पर इस खेल को खेला।

स्टीवन बेस्ट और डगलस केल्नर रॉशनबर्ग एवं जैस्पर जॉन्स की पहचान आधुनिकतावाद एवं उत्तरआधुनिकतावाद के दरम्यान, मार्सेल डुचौम्प द्वारा प्रेरित, संक्रमणकालीन चरण के हिस्से के रूप में करते हैं। दोनों ने उच्च आधुनिकतावाद

के सारग्रहण एवं चित्रकार के भाव को कायम रखते समय अपनी रचनाओं में साधारण वस्तुओं की छवियों को या खुद वस्तुओं का इस्तेमाल किया।

नव-डाडा से जुड़े कला में एक और प्रवृत्ति एक साथ असंख्य विभिन्न माध्यम का इस्तेमाल है। अंतर्माध्यम (इंटरमीडिया), इस शब्द का अविष्कार डिक हिगिंस ने किया था, जिसका तात्पर्य फ्लक्सस, मूर्त कविता, प्राप्त वस्तुओं, प्रदर्शन कला और कंप्यूटर कला की पंक्तियों के साथ नए कलारूपों को संप्रेषित करना है। हिगिंस समथिंग एल्स प्रेस के प्रकाशक, एक मूर्त कवि, कलाकार एलिसन नोल्स के पति और मार्सेल डुचौम्प के एक प्रशंसक थे।

प्रदर्शन और तमाशे

कैरोली श्नीमन, अपनी इंटीरियर स्क्रॉल का प्रदर्शन कर रही हैं–

1950 के दशक के अंतिम दौर में और 1960 के दशक के दौरान काफी रुचि लेने वाले कलाकारों ने समकालीन कला की सीमाओं को बढ़ाना शुरू कर दिया। फ्रांस में यवेस क्लेन और न्यूयॉर्क शहर में कैरोली श्नीमन, यायोई कुसामा, चारलोट मूरमैन और योको ओनो प्रदर्शन-आधारित कलाकृतियों के अग्रदूत थे। जुलियन बेक एवं जुडिथ मलिना के साथ द लिविंग थिएटर जैसे समूहों ने मूर्तिकारों और चित्रकारों के साथ मिलकर वातावरण तैयार करने में सहयोग किया और मौलिक रूप से खास तौर पर अपनी रचना पैराडाइज नाउ में दर्शक और प्रदर्शक के बीच के सम्बन्ध को बदल दिया। न्यूयॉर्क के जुडसन मेमोरियल चर्च में स्थित जुडसन डांस थिएटर और जुडसन डांसर, विशेष रूप से यवोन रेनर, ट्रिशा ब्राउन, एलेन समर्स, सैली ग्रोस, सिमोन फोर्टी, डेबोरा हे, लुसिंडा चाइल्ड्स, स्टीव पैक्सटन और अन्य ने रॉबर्ट मॉरिस, रॉबर्ट व्हिटमैन, जॉन केज, रॉबर्ट रॉशनबर्ग जैसे कलाकारों और बिली क्लुवर जैसे इंजीनियरों के साथ मिलकर काम किया। पार्क प्लेस गैलरी स्टीव रेच, फिलिप ग्लास जैसे इलेक्ट्रॉनिक संगीतकारों और जोआन जोनास सहित अन्य उल्लेखनीय प्रदर्शन कलाकारों के संगीत प्रदर्शन का एक केंद्र था। इन प्रदर्शनों का इरादा एक ऐसे नए कला रूप की रचनाओं का प्रदर्शन करना ,जिसमें मूर्तिकला, नृत्य और संगीत या ध्वनि का समावेश हो, जिसमें अक्सर दर्शकों की भागीदारी रहती थी। उन्हें अतिसूक्ष्म्वाद की न्यूनीकृत दर्शनों और अमूर्त अभिव्यंजनावाद के सहज आशुराचना एवं व्यंजकता द्वारा अभिलक्ष्यित किया जाता था।

इसी अवधि के दौरान विभिन्न कला-अग्रणी कलाकारों ने तमाशों का निर्माण किया। तमाशे विभिन्न निर्दिष्ट स्थानों में कलाकारों और उनके मित्रों और रिश्तेदारों की रहस्यमयी एवं अक्सर सहज एवं अलिखित सम्मलेन होते थे, जिसमें अक्सर असंगति, भौतिकता, वेशभूषा, सहज नग्नता और विभिन्न यादृच्छिक या प्रतीतात्मक असम्बद्ध कृत्य अंतर्भुक्त होते थे। इन तमाशों के उल्लेखनीय रचनाकारों में एलन कैप्रो, क्लेस ओल्डेनबर्ग, जिम डाइन, रेड ग्रूम्स और रॉबर्ट व्हिटमैन शामिल थे।

एलन कैप्रो की प्रदर्शन कला ने कला और जीवन को एकीकृत करने का प्रयास किया। तमाशों के माध्यम से जीवन, कला और दर्शक के बीच का अलगाव धुंधला हो जाता है। ये तमाशे कलाकार को शरीर की गति, रिकॉर्ड की गई ध्वनि, लिखित एवं कथित पाठ्य और यहां तक कि गंध के साथ भी प्रयोग करने की अनुमति प्रदान करते हैं। एलन कैप्रो के सबसे आरंभिक तमाशों में से एक 'हैपनिंग्स इन द न्यूयॉर्क सीन' था, जिसकी रचना 1961 में की गई थी, जिस समय इस कलारूप का विकास हो रहा था।

1958 में कैप्रो ने 'द लीगेसी ऑफ जैक्सन पोलक' नामक निबंध प्रकाशित किया। इसमें वह 'रंग, कुर्सी, भोजन, बिजली और नियन रौशनी, धूम्रपान, जल, पुराने मोजे, कुत्ता, फिल्म जैसे रोजमर्रा की सामग्रियों से निर्मित एक 'मूर्त कला' की मांग करते हैं। इस विशेष पाठ में, वह यह कहते हुए पहली बार 'तमाशा' शब्द का इस्तेमाल करते हैं कि शिल्प कौशल एवं स्थायित्व को भूल जाना चाहिए और कला में नश्वर सामग्रियों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

इंटरमीडिया, मल्टी-मीडिया

उत्तर आधुनिक शब्द से जुड़ी कला की एक और प्रवृत्ति एक-साथ असंख्य मीडिया का उपयोग है। अंतर्माध्यम (इंटरमीडिया), इस शब्द का अविष्कार डिक हिगिंस ने किया था, जिसका तात्पर्य फ्लक्सस, मूर्त कविता, प्राप्त वस्तुओं, प्रदर्शन कला और कंप्यूटर कला की पंक्तियों के साथ नए कलारूपों को संप्रेषित करना है। हिगिंस समथिंग एल्स प्रेस के प्रकाशक, एक मूर्त कवि, कलाकार एलिसन नोल्स के पति और मार्सेल डुचौम्प के एक प्रशंसक थे। इहाब हसन उत्तरआधुनिक कला की विशेषताओं की अपनी सूची में 'इंटरमीडिया, रूपों का संलयन, अधिकारों का भ्रम' शामिल करते हैं। 'मल्टी-मीडिया

कला' के सबसे आम तरीकों में से एक वीडियो-टेप और सीआरटी (CRT) मॉनिटरों का उपयोग है, जिसे वीडियो कला की संज्ञा दी गई है, हालांकि कई कलाओं को एक कला में संयोजित करने का सिद्धांत काफी पुराना है और समय-समय पर इसे पुनर्जीवित किया जाता रहा है, उत्तरआधुनिक अभिव्यक्ति अक्सर प्रदर्शन कला के साथ जुड़ी हुई है, जहां नाटकीय उपपाठ को हटा दिया जाता है और जो कुछ बचता है वह कलाकार के संदिग्ध विशिष्ट वक्तव्य या उनके कार्यों का वैचारिक वक्तव्य होता है।

फ्लक्सस

फ्लक्सस का नामकरण और निर्बाध रूप से इसका आयोजन लिथुआनिया में जन्मे जॉर्ज मैसिउनस (1931-1978) नामक एक अमेरिकी कलाकार ने 1962 में किया। न्यूयॉर्क शहर के न्यू स्कूल फॉर सोशल रिसर्च में जॉन केज के 1957 से 1959 के प्रायोगिक संरचना की कक्षाओं से फ्लक्सस के नामोनिशान मिलने शुरू हुए हैं। उनके छात्रों में से कई कलाकार थे, जो अन्य मीडिया में काम करते थे, जिन्हें संगीत की थोड़ी बहुत जानकारी या बिल्कुल जानकारी नहीं थी। केज के छात्रों में फ्लक्सस की स्थापना करने वाले सदस्य जैक्सन मैक लो, अल हैनसेन, जॉर्ज ब्रेक्ट और डिक हिगिंस शामिल थे।

फ्लक्सस ने खुद-से-करने के सौन्दर्य सिद्धांत को प्रोत्साहित किया एवं जटिलता पर सादगी को महत्त्व दिया। इससे पहले डाडा की तरह, फ्लक्सस में एक शक्तिशाली वाणिज्यीकरण-विरोधी धारा और एक कला-विरोधी संवेदनशीलता शामिल थी, जो एक कलाकार-केन्द्रित रचनात्मक प्रथा के पक्ष में पारंपरिक बाजार-चालित कला विश्व की उपेक्षा करता था। फ्लक्सस कलाकार उपलब्ध सामग्रियों के साथ काम करने को प्राथमिकता देते थे और अपनी खुद की रचना का निर्माण करते थे या अपने सहयोगियों के साथ निर्माण प्रक्रिया में सहयोग करते थे।

एंड्रियाज हुसेन उत्तरआधुनिकतावाद के लिए फ्लक्सस का दावा 'या तो उत्तरआधुनिकतावाद के मास्टर-कोड या अंततः अप्रदर्शनीय कला आन्दोलन - मानो यह उत्तरआधुनिकतावाद की उत्तम शैली हो' के रूप में करने के प्रयासों की आलोचना करते हैं। इसके बजाय वह फ्लक्सस को कला-अग्रणी परंपरा के भीतर एक प्रमुख नव-डाडावादी घटना के रूप में देखते हैं। यह कलात्मक रणनीतियों के विकास में एक प्रमुख उन्नति को प्रदर्शित करता था, हालांकि यह

'1950 के दशक की प्रशासित संस्कृति' के खिलाफ एक विद्रोह की अभिव्यक्ति करता था, 'जिसमें एक उदारवादी, अनुकूल आधुनिकतावाद ने शीत युद्ध के सैद्धांतिक आधार के रूप में काम किया।'

अंतिम दौर की अवधि

रॉनी लैंडफील्ड, गार्डन ऑफ डिलाईट, 1971, 1970 के दशक के आरम्भ का

गीतात्मक सारग्रहण

कई विषयों के कलाकार 21वीं सदी में आधुनिकतावादी शैलियों में काम कर रहे हैं। अमूर्त अभिव्यंजनावाद, रंग क्षेत्र चित्रकला, गीतात्मक सारग्रहण, रैखिकीय सारग्रहण, अतिसूक्ष्मवाद, अमूर्त भ्रमवाद, प्रक्रिया कला, पॉप कला, उत्तरअतिसूक्ष्मवाद और 20वीं सदी के अंतिम दौर के चित्रकला एवं मूर्तिकला के अन्य आधुनिकतावादी आन्दोलनों की निरंतरता 21वीं सदी के पहले दशक में कायम है और उन माध्यमों में कट्टरपंथी नई दिशाओं को स्थापित करती है।

21वीं सदी के मोड़ पर, सर एंथनी कारो, लुसियन फ्रायड, साई त्वोम्ब्ली, रॉबर्ट रॉशनबर्ग, जैस्पर जॉन्स, एग्नेस मार्टिन, अल हेल्ड, एल्सवर्थ केली, हेलेन फ्रैंकनथेलर, फ्रैंक स्टेला, केनेथ नोलैंड, जुल्स ओलित्सकी, क्लेस ओल्डेनबर्ग, जिम डाइन, जेम्स रोजेन्किस्ट, एलेक्स कैट्ज, फिलिप पर्लस्टीन जैसे सुप्रतिष्ठित कलाकारों और ब्राइस मार्डेन, चक क्लोज, सैम गिलियम, आइजक विट्किन, शॉन स्कली, जोसेफ नेच्वाटल, एलिजाबेथ मुरे, लैरी पूंस, रिचर्ड सेर्रा, वॉल्टर डार्बी बनार्ड, लैरी जोक्स, रॉनी लैंडफील्ड, रोनाल्ड डेविस, डैन क्रिस्टेंसन, जोएल शैपिरो, टॉम ऑटरनेस, जोआन स्नाइडर, रॉस ब्लेक्नर, आर्ची रैंड, सुजैन क्राइल जैसे युवा कलाकारों ने महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली चित्रकलाओं और मूर्तियों का निर्माण करना जारी रखा।

हालांकि, 1980 के दशक के आरम्भ तक कला एवं वास्तुकला में उत्तरआधुनिक आन्दोलन ने विभिन्न वैचारिक एवं इंटरमीडिया स्वरूपों के माध्यम से अपनी स्थिति को मजबूत करना शुरू कर दिया। संगीत और साहित्य में उत्तरआधुनिकतावाद ने इससे भी पहले, कुछ लोगों के अनुसार 1950 के दशक तक, अपनी पकड़ मजबूत करना शुरू कर दिया था। जबकि उत्तरआधुनिकतावाद आधुनिकतावाद के अंत के बाद से लागू होता है, कई सिद्धांतवादियों और विद्वानों का तर्क है कि उत्तर आधुनिकतावाद 21वीं सदी में भी कायम है।

आंदोलन के लक्ष्य

नेदरलैंड्स में 'ग्लास पैलेस' (1935) - कार्यात्मक और खुला

कई आधुनिकतावादियों का मानना था कि परंपरा का त्याग करके वे मौलिक रूप से कला निर्माण के नए तरीकों का अविष्कार कर सकते थे। अर्नोल्ड शोएनबर्ग ने परंपरागत तानवाले सद्भाव, संगीत की रचनाओं का निर्माण करने की पदानुक्रमित प्रणाली को त्याग दिया, जिसने कम से कम डेढ़ दशक तक संगीत निर्माण का पथप्रदर्शन किया था। उनका मानना था कि उन्होंने बारह-स्वर पंक्तियों के उपयोग के आधार पर संगीत रचना के एक सम्पूर्ण नए तरीके का अविष्कार कर लिया था। अमूर्त कलाकारों, जो अपने आपको प्रभाववादी कहते हैं, के साथ-साथ पॉल सिजेन और एडवर्ड मंच ने इस धारणा के साथ शुरुआत की कि रंग एवं आकृति, न कि प्राकृतिक विश्व का चित्रण, ने कला की आवश्यक विशेषताओं का निर्माण किया। वैसिली कैंडिंस्की, पीट मोंड्रियन और काजिमिर मालेविच सभी शुद्ध रंग की व्यवस्था के रूप में कला को फिर से परिभाषित करने में विश्वास करते थे। फोटोग्राफी ने आधुनिकतावाद के इस पहलू को बहुत ज्यादा प्रभावित किया, जिसने दृश्य कला के अधिकांश प्रतिनिधित्यवादी कृत्यों को गतकालिक बना दिया था। हालांकि, ये कलाकार इस बात पर भी विश्वास करते थे कि भौतिक वस्तुओं के चित्रण का त्याग करके उन्होंने कला को विकास के एक भौतिकवादी चरण से एक आध्यात्मवादी चरण में स्थानांतरित करने में मदद किया था।

शिकागो में लुडविग मिएस वैन डेर रोहे का 330 नॉर्थ वाबाश (पहले आईबीएम प्लाजा)

अन्य आधुनिकतावादियों, विशेष रूप से जो डिजाइन में अंतर्भुक्त थे, के विचार अधिक व्यावहारिक थे। आधुनिकतावादी वास्तुकारों और डिजाइनरों का मानना था कि नई प्रौद्योगिकी ने इमारतों की पुरानी शैलियों को गतकालिक बना दिया। ले कोर्बिजियर की सोच थी कि इमारतों को 'निवास करने के मशीनों' के रूप में, कारों के अनुरूप, कार्य करना चाहिए, जिसे उन्होंने यात्रा के मशीनों के रूप में देखा था। जिस तरह कारों ने घोड़ों की जगह ले ली थी, ठीक उसी तरह आधुनिकतावादी डिजाइन को प्राचीन मिस्र या मध्य युग से चली आ रही पुराणी शैलियों और संरचनाओं को त्याग देना चाहि,कुछ मामलों में रूप ने कार्यो का अधिक्रमण किया। इस मशीन सौन्दर्य सिद्धांत का अनुसरण करते हुए

आधुनिकतावादी डिजाइनरों ने आम तौर पर डिजाइन में सजावटी रूपंकानों का त्याग कर दिया और प्रयुक्त सामग्रियों और शुद्ध रैखिकीय रूपों पर जोर देना पसंद किया। न्यूयॉर्क (1956–1958) में लुडविग मिएस वैन डेर रोहे की सीग्राम बिल्डिंग जैसे गगनचुम्बी इमारत आद्यप्ररूपीय आधुनिकतावादी इमारत बन गए। मकानों और फर्नीचर के आधुनिकतावादी डिजाइन ने भी आम तौर पर रूप की सादगी एवं स्पष्टता, मुक्त–योजना आतंरिक भाग और अव्यवस्था के अभाव पर जोर दिया। आधुनिकतावाद ने 19वीं सदी के सार्वजनिक एवं निजी सम्बन्ध को उलट दिया–19वीं सदी में, सार्वजनिक इमारतें विभिन्न तकनीकी कारणों से क्षैतिज रूप से फैले हुए होते थे और निजी इमारतें बढ़ते सीमित भूमि पर अधिक निजी स्थान को समायोजित करने के लिए लम्बवत रूप पर जोर देते थे। इसके विपरीत, 20वीं सदी में, सार्वजनिक इमारत लम्बवत उन्मुखी बन गए और निजी इमारत क्षितिज रूप से स्थापित हुए। आज भी समकालीन वास्तुकला की मुख्यधारा के भीतर आधुनिकतावादी डिजाइन के कई पहलू कायम हैं, यद्यपि इसके पिछले स्वमताभिमान ने सजावट, ऐतिहासिक उद्धरण, उअर स्थानिक नाटक के एक अधिक रसिक उपयोग का तरीका प्रदान किया है।

वैसिली चेयर

अन्य कला में इस तरह के व्यावहारिक विचार कम महत्त्वपूर्ण थे। साहित्य और दृश्य कला में कुछ आधुनिकतावादियों ने मुख्य रूप से अपनी कला को और अधिक उज्जवल बनाने के लिए या उनकी खुद के पूर्वाग्रहों पर प्रश्न उठाने की परेशानी लेने के लिए दर्शकों को मजबूर करने के लिए उम्मीदों की उपेक्षा करना चाहते थे। आधुनिकता का यह पहलू अक्सर उपभोक्ता संस्कृति की एक प्रतिक्रिया लगती है, जिसका विकास 19वीं सदी के अंत में यूरोप एवं उत्तर अमेरिका में हुआ था। जबकि अधिकांश निर्माता उन उत्पादों का निर्माण करने का प्रयास करते हैं, जिसका वरीयताओं और प्रतिकूल प्रभावों के आकर्षण के जरिए विपणन किया जाएगा, उच्च आधुनिकतावादियों ने पारंपरिक सोच को कमजोर बनाने के लिए इस तरह के उपभोक्तावादी दृष्टिकोणों को त्याग दिया। कला समीक्षक क्लेमेंट ग्रीनबर्ग ने अपने अवंत–गर्दे एंड कित्श नामक निबंध में आधुनिकतावाद के इस सिद्धांत की व्याख्या की, ग्रीनबर्ग ने उपभोक्ता संस्कृति के उत्पादों पर 'कित्श' का लेबल लगा दिया, क्योंकि उनके डिजाइन का लक्ष्य बस अधिकतम आकर्षण प्राप्त करना था और साथ में किसी भी मुश्किल

सुविधा को हटा दिया गया। इस तरह ग्रीनबर्ग के अनुसार आधुनिकतावाद ने वाणिज्यिक लोकप्रिय संगीत, हॉलीवुड और विज्ञापन के रूप में आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति के ऐसे उदाहरणों के विकास के खिलाफ एक प्रतिक्रिया की स्थापना की, ग्रीनबर्ग ने इसे पूंजीवाद की क्रन्तिकारी अस्वीकृति से जोड़ दिया।

कुछ आधुनिकतावादियों ने अपने आपको एक क्रन्तिकारी संस्कृति के हिस्से के रूप में देखा जिसमें राजनीतिक क्रांति शामिल थी। अन्य लोगों ने पारंपरिक राजनीति के साथ-साथ कलात्मक सम्मेलनों का त्याग किया, उनका विश्वास था कि राजनीतिक संरचनाओं के परिवर्तन की तुलना में राजनीतिक चेतना की एक क्रांति का बहुत अधिक महत्त्व था। कई आधुनिकतावादियों ने अपने आपको अराजनीतिक रूप में देखा। अन्य, जैसे - टी. एस. ईलियट, ने एक रूढ़िवादी स्थिति से विशाल लोकप्रिय संस्कृति का परित्याग कर दिया। कुछ लोगों का यह भी तर्क है कि साहित्य एवं कला में आधुनिकतावाद ने एक उत्कृष्टवर्गीय संस्कृति का पोषण करने के लिए काम किया, जिसने जनसंख्या के बहुमत को अपवर्जित किया।

आधुनिकतावाद की आलोचनाएं

फ्रैंज मार्क, जानवरों का भाग्य, 1913, ऑयल ऑन कैनवास.1937 में नाजी जर्मनी के म्यूनिख में एन्टार्टेट कुंस्ट की प्रदर्शनी में प्रदर्शित किया गया।

इसकी परंपरा की अस्वीकृति आधुनिक आन्दोलन की सबसे विवादास्पद पहलू थी और है। आदिमवाद, कट्टरपंथ, प्रयोग और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधुनिकतावाद का जोर पारंपरिक उम्मीदों की उपेक्षा करता है। कई कला रूपों में इसका तात्पर्य अक्सर आधुनिकतावादी संगीत में अत्यधिक असंगति एवं अतानता के उपयोग या अतियथार्थवाद में रूपंकानों के शक्तिशाली एवं तकलीफदेह संयोजनों के रूप में अजीब और मनमौजी प्रभावों के साथ दर्शकों को चौंका देना और पृथक कर देना था। साहित्य में इसमें अक्सर उपन्यासों में स्पष्ट कथानकों या चरित्रांकन का त्याग, या स्पष्ट व्याख्या की उपेक्षा करने वाले काव्य की रचना शामिल होती थी।

स्टालिन के उदय के बाद, सोवियत साम्यवादी सरकार ने कथित उत्कृष्टवर्गवाद के आधार पर आधुनिकतावाद का त्याग कर दिया, हालांकि इसने पहले भविष्यवाद एवं निर्माणवाद का समर्थन किया था। जर्मनी की नाजी सरकार आधुनिकतावाद को आत्मकामी एवं अतर्कसंगत के साथ-साथ 'यहूदी' एवं

'हब्शी' समझती थी (सामिवाद-विरोधी देखें). नाजियों ने डिजनरेट आर्ट शीर्षक वाली एक प्रदर्शनी में मानसिक रूप से बीमार कलाकारों की रचनाओं के साथ-साथ आधुनिकतावादी चित्रकलाओं का भी प्रदर्शन किया। 'रीतिवाद' के आरोप के परिणामस्वरूप किसी के करियर का अंत हो सकता था, या इसकी बदतर हालत हो सकती थी। इसी वजह से उत्तर-युद्ध पीढ़ी के कई आधुनिकतावादियों ने महसूस किया कि वे सर्वाधिकारवाद के खिलाफ सबसे महत्त्वपूर्ण अवरोध, 'कोयले की खान के मुखबिर', थे जिसका किसी सरकार या अपेक्षित अधिकारी वाले किसी अन्य समूह द्वारा किया गया, दमन एक चेतावनी का प्रतिनिधित्व करता था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर खतरा मंडरा रहा था। लुइस ए. सास ने अपने सहभाजी वियोगी वर्णनों, असली छवियों और बेतरतीबी का उल्लेख करते हुए एक थोड़े कम फासीवादी तरीके से पागलपन, विशेष रूप से विखंडितमनस्कता और आधुनिकतावाद की तुलना की,

वास्तव में, आधुनिकतावाद के समर्थक अक्सर खुद उपभोक्तावाद का त्याग करते थे, इस तथ्य के बावजूद, आधुनिकतावाद ने मुख्य रूप से उपभोक्ता/पूंजीवादी समाजों को समृद्ध किया। बहरहाल, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, विशेष रूप से 1960 के दशक के दौरान, उच्च आधुनिकतावाद का उपभोक्ता संस्कृति में विलय होने लगा. ब्रिटेन में, द हू और द किंक्स जैसे प्रतिनिधि संगीत समूहों का अनुसरण करते हुए एक युवा उप-संस्कृति का उद्भव हुआ जो खुद को 'आधुनिकतावादी' (जिसे आम तौर पर संक्षेप में मॉड) कहते थे। बॉब डायलन, सर्ज गेंसबर्ग और द रोलिंग स्टोंस की तरह की हस्तियों ने जेम्स जॉयस, सैमुएल बेकेट, जेम्स थर्बर, टी. एस. ईलियट, गिलौम अपोलिनेयर, एलेन गिन्सबर्ग और अन्य से व्युत्पन्न साहित्यिक उपकरणों को ग्रहण करते हुए लोकप्रिय संगीत परम्पराओं को आधुनिकतावादी छंद के साथ जोड़ दिया। द बीटल्स ने कई एल्बमों पर विभिन्न आधुनिकतावादी संगीत प्रभावों की रचना करते हुए इसी तरह की पंक्तियों को विकसित किया, जबकि फ्रैंक जैपा, सिड बैरेट और कैप्टन बीफहार्ट जैसे संगीतकार इससे भी अधिक प्रायोगिक सिद्ध हुए। आधुनिकतावादी उपकरण लोकप्रिय सिनेमा और बाद में संगीत वीडियो में भी दिखाई देने लगे। आधुनिकतावादी डिजाइन भी लोकप्रिय संस्कृति की मुख्यधारा में प्रवेश करने लगे, जब सरलीकृत और शैलिपूर्ण रूप लोकप्रिय हुए, जो अक्सर किसी अंतरिक्ष युग के उच्च-तकनीक वाले भविष्य के स्वप्नों से सम्बद्ध होते थे।

आधुनिकतावादी संस्कृति के उच्च संस्करणों और उपभोक्ता के इस विलय के परिणामस्वरूप 'आधुनिकतावाद' के अर्थ में एक क्रन्तिकारी बदलाव आया। सबसे पहले, इसका तात्पर्य था कि परंपरा के त्याग पर आधारित एक आन्दोलन इसकी अपनी एक परंपरा बन गई थी। दूसरा, इसने यह दिखाया कि उत्कृष्टवर्गीय आधुनिकतावादी और विशाल उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच के भेद ने अपनी परिशुद्धता को खो दिया था। कुछ लेखकों कौन?, ने घोषणा की कि आधुनिकतावाद इतना संस्थागत हो गया था कि यह अब 'उत्तर कला-अग्रणी' हो गया था, जो यह संकेत देता था कि इसने एक क्रन्तिकारी आन्दोलन के रूप में अपनी शक्ति को खो दिया था। कईयों ने इस परिवर्तन की व्याख्या उस चरण की शुरुआत के रूप में की है, जिसे उत्तरआधुनिकतावाद के नाम से प्रचलित हुआ। कला समीक्षक रॉबर्ट ह्यूजेस जैसे अन्य लोगों के अनुसार, उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकतावाद के एक विस्तार का प्रतिनिधित्व करता है।

'आधुनिक-विरोधी' या 'प्रत्याधुनिक' आन्दोलन आधुनिकतावाद के निवारण या प्रतिकार के रूप में साकल्यवाद, संयोजन एवं आध्यात्मिकता पर जोर देना चाहते हैं। ऐसे आन्दोलन आधुनिकतावाद को न्यूनकारक रूप में देखते हैं और इसलिए प्रणालीगत एवं आकस्मिक प्रभावों को देखने की अक्षमता के अधीन है। कई आधुनिकतावादी इस दृष्टिकोण को अपनाते हैं, उदाहरण के तौर पर पॉल हिंडमिथ ने रहस्यवाद की तरफ अपने अंतिम मोड़ में ऐसा किया था। जीम (2000) में पॉल एच. रे एवं शेरी रुथ एंडरसन, ए कल्चर ऑफ होप में फ्रेडरिक टर्नर और प्लान बी में लेस्टर ब्राउन जैसे लेखकों ने खुद आधुनिकतावाद के बुनियादी विचार की आलोचना की है कि व्यक्तिगत रचनात्मक अभिव्यक्ति को प्रौद्योगिकी की वास्तविकताओं के अनुरूप होना चाहि,इसके बजाय, वे तर्क देते हैं, व्यक्तिगत रचनात्मकता को रोजमर्रा के जीवन को भावनात्मक रूप से अधिक स्वीकार्य बनाना चाहिए।

कुछ क्षेत्रों में आधुनिकतावाद के प्रभाव अन्य की तुलना में अधिक शक्तिशाली और अधिक दृढ़ बने हुए हैं। दृश्य कला ने अपने अतीत से पूरी तरह सम्बन्ध तोड़ लिया है। अधिकांश प्रमुख राजधानी शहरों में उत्तर-पुनर्जागरण कला (लगभग 1400 से लगभग 1900 तक) से अलग, 'आधुनिक कला' को समर्पित संग्रहालय हैं। इसके उदाहरणों में न्यूयॉर्क का म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट, लन्दन का टेट मॉडर्न और पेरिस का सेंटर पोम्पिडो शामिल हैं। ये गैलरी आधुनिकतावादी और उत्तरआधुनिकतावादी चरणों के दरम्यान किसी तरह का

कोई भेद नहीं करते हैं, दोनों को 'आधुनिक कला' के भीतर विकासात्मक घटनाक्रमों के रूप में देखते हैं।

आधुनिकता और उत्तरआधुनिकतावाद में अंतर

आधुनिकतावाद सांस्कृतिक आंदोलनों की एक विस्तृत विविधता का एक व्यापक लेबल है। उत्तर आधुनिकतावाद अनिवार्य रूप से एक केंद्रीकृत आंदोलन है, जिसने सामाजिक-रानजीतिक सिद्धांत के आधार पर खुद अपना नामकरण किया, हालांकि इस शब्द का इस्तेमाल अपना व्यापक अर्थों में 20वीं सदी से आगे की गतिविधियों को सन्दर्भित करने के लिए किया जाता है, जो आधुनिक की जागरूकता का प्रदर्शन करते हैं और इसकी पुनर्व्याख्या करते हैं।

उत्तरआधुनिक सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि आधुनिकतावाद को 'तथ्योपरांत' की उपाधि से विभूषित करने का प्रयास बेमेल विरोधाभासों से अभिशप्त है।

एक अतिसंकीर्ण अर्थ में, जो कुछ भी आधुनिकतावादी था, वह आवश्यक रूप से उत्तरआधुनिक भी नहीं था। सामाजिक-प्रौद्योगिकीय प्रगति एवं चेतना के लाभों पर बल देने वाले आधुनिकतावाद के तत्त्व केवल आधुनिकतावादी ही थे।

डॉ. उत्तम पटेल

उत्तर आधुनिकता की पहली परिकल्पना आर्नल्ड टॉयनबी ने की थी। उन्होंने अपनी पुस्तक। Study Of History में आज से लगभग 120 साल पूर्व 1850 इ.स. से 1857 इ.स. के बीच आधुनिक युग की समाप्ति की घोषणा की थी। उन्होंने 1918-1939 के बीच के समय के लिए उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग किया था। उनके मतानुसार उत्तर आधुनिकता के मसीहा नीत्से थे।

लेकिन उत्तर आधुनिक शब्द का चलन बाद में आया... एडोर्नो-होर्खिमार ने इसे नये दार्शिनक अर्थ दिये। बाद में फ्रांसीसी दार्शनिक ल्योतार ने इसे एक स्थिति के रूप में स्थिर करने का प्रयत्न किया।

इतिहास में उत्तर आधुनिक विशेषण का पहला प्रयोग अमेरिकी उपन्यासकार जॉन वाथ् ने 1967 में द लिटरेचर ऑफ एक्सॉशन नामक प्रथम लेख में सार्थक ढंग से किया था। जब कि उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1979 में ल्योतार ने किया था।

उत्तर आधुनिकता विचार या दर्शन से अधिक एक प्रवृत्ति का नाम है। यह बीसवीं शताब्दी की मूल धारा है। यह संपूर्ण आधुनिक यूरोपीय दर्शन के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया है–देकार्त, सार्त्र एवम् जर्मन चिंतकों के प्रति। पाउलोस मार ग्रगोरिओस के मतानुसार उत्तर आधुनिकता एक विचारधारा या लक्ष्य केंद्रित या नियम अनुशासित आंदोलन न होकर पश्चिमी मानवतावाद की दुर्दशा है। यह लक्ष्यों, नियमों, सरल रेखाओं तथा साधारण विचारों पर विचार नहीं करती। यह आधुनिक पाश्चात्य मानवतावाद की अग्रचेतना की एक स्थिति है। ल्योतार, रोर्टी, फूको एवम् देरिदा आदि के दर्शन मुख्य रूप से हेगल के प्रत्ययवादी विचारों की चेतन प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुए हैं।

उत्तर आधुनिकता की मूल चेतना आधुनिक ही है। क्योंकि इसका विकास एवम् इसकी अस्मिता का आधार वही उद्योग हैं, जो आधुनिकता की देन है। टॉयनबी के अनुसार आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता तब शुरू होती है जब लोग कई अर्थों में अपने जीवन, विचार एवम् भावनाओं में तार्किकता एवम् संगति को त्याग कर अतार्किकता एवम् असंगतियों को अपना लेते हैं। इसकी चेतना विगत को एवम् विगत के प्रतिमानों को भुला देने के सक्रिय उत्साह में दीख पड़ती है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की समाप्ति के बाद की स्थिति है।

लाक्षणिकताएं

1. उत्तर आधुनिक की स्थिति में किसी भी आदर्श एवम् ज्ञान का आधार मानवता की आधुनिक चेतना होती है।
2. उत्तर आधुनिकतावाद व्यक्ति या सामाजिक इकाइयों की स्वतंत्रता के पक्ष में तर्क करती है।
3. व्यक्ति को सामाजिक तंत्र का मात्र एक पुर्जा न मानकर उसे एक अस्मितापूर्ण अस्तित्व प्रदान करता है।
4. आधुनिकता के पूर्णवादी रवैये का विरोध करता है।
5. ज्ञान की जगह उपभोग को प्राधान्य देता है।
6. यह अतीत में जाने की छूट देता है, किन्तु उसे मनोरंजन बनाते हुए, पण्य और उपभोग की सामग्री बनाने के लिए। यह अतीत का पुनःउत्पादन संभव करता है, किन्तु उसकी भव्यता का स्वीकार नहीं करता।
7. यह हर महानता को सामान्य बनाता है।

8. समग्रता का विखंडन(अस्वीकार) करता है।
9. रचना को विज्ञापन तथा समीक्षा को प्रयोजन बना देता है।
10. इससे शब्दार्थ में अनेकांत पैदा होती है।
11. इसमें एक देश का सत्य, विश्व का सत्य बन गया है। कला सूचना मात्र है।
12. यह ज्ञान शब्द का अर्थ बदल देता है, अज्ञात प्रस्तुत करता है, वैधता का एक नया आदर्स प्रस्तुत करता है। मतैक्य के बदले मतभेद को महत्त्व देता है। एकरूपता का अस्वीकार करके विषमता की स्थिति का स्वीकार करता है। एकरूपता के प्रति यह विरुचि ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित है।
13. यह सार्थक बहुलता का स्वीकार करता है। इसके अनुसार एकता मात्र दमनकारी व एकपक्षीय तरीकों से स्थापित की जा सकती है। एकता का सीधा अर्थ है, नियमों व बलों की आवश्यकता। बहुलता व विषमता सामाजिक प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से टकराव की स्थिति पैदा करते हैं। उत्तर आधुनिकता के अनुसार सापेक्ष मतैक्य न्याय प्राप्ति करने का कोई संतोष कारक समाधान नहीं दे सकता। इसलिए न्याय के ऐसे वैचारिक व व्यावहारिक पक्ष पर पहुँचना होगा, जो मतैक्य से जुड़े न हों। ल्योतार ने न्याय की चेतना विकसित की ओर अन्याय के प्रति एक नई संवेदनशीलता का निर्माण किया।
14. यह उच्च संस्कृति एवम् निम्न संस्कृति में अंतर करने की प्रक्रिया को चुनौती देता है।
15. उत्तर आधुनिकता विचारधारा, व्यक्तिगत आस्थाओं, त्रुटियों एवम् विकारों को विज्ञान से जोड़ती है।
16. आधुनिकतावाद के अनुसार आख्यानों की दुनिया से निकल कर ही वास्तविक ज्ञान मिल सकता है, जबकि ल्योतार का कथन है- विज्ञान और आख्यान का विरोध तर्कहीन है, क्योंकि विज्ञान अपने आप में एक प्रकार का आख्यान है। विज्ञान उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है, उद्योग-वाणिज्य में सहायता करता है। विज्ञान शोषण एवम् श्रम से मनुष्य को मुक्त करता है। विज्ञान विचारों की मुक्ति एवम् विकास के द्वार खोलता है। इसलिए महा आख्यानों को त्याग कर अनिश्चितता एवम् सापेक्षता की उत्तर आधुनिक परिस्थिति को स्वीकार कर लेना चाहिये।

17. उत्तर आधुनिकता तार्किकता के अति उपयोग पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। इसके अनुसार मनुष्य पूर्णत: स्वायत्त, उच्च एवम् श्रेष्ठ है। वह अपने मानस एवम् कामुकता के अलावा न तो किसीके प्रति उत्तरदायी है और न ही किसी पर आश्रित है।
18. उत्तर आधुनिकता पीछे की ओर लौटना नहीं चाहता। यह उन पारंपरिक एवम् धार्मिक प्रतिमानों को पुन: स्थापित नहीं करना चाहता, जिन्हें आधुनिकता ने अस्वीकार कर दिया था। यह ऐसे प्रतिमानों का अस्वीकार करता है, जिनमें लिखित भाषा एवम् तर्कशास्त्रीय तार्किकता पर बल दिया जाता है।
19. उत्तर आधुनिकता निश्चितता के असंदेहास्पद आधार पर किसी ज्ञानतंत्र की स्थापना की कठिनाइयों का स्वीकार करता है।
20. उत्तर आधुनिकतावादी ऐसे समाज की खोज में लगे हैं, जो अदमनकारी हो।
21. यह निश्चितता, क्रमिकता, एकरूपता में विश्वास नहीं करता, अस्पष्ट तथा अनायास को मान्यता देता है।

देरिदा और विरचना

उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में देरिदा का विरचना-सिद्धांत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। देरिदा ने पॉजीशन्स एवम् ग्रामाटोलॉजी पुस्तकों में इसकी चर्चा की है। देरिदा विरचना द्वारा शब्दकेन्द्रवाद का विरोध करते हैं। विरेचना यानि क्पॉमित या कममित।

यूरोपीय तथा भारतीय- दोनों दर्शनों की`की जा सकती है। विरेचना एक दार्शनिक प्रणाली है, जिसका उपयोग देरिदा ने दार्शनिक विश्लेषण के सत्ता मीमांसक पहलुओं की विरेचना के लिए किया है। संकेत का विचार बोध देरिदा के लेखन का मुख्य विषय है। संकेत की धारणा सदा ही इंद्रियगोचर एवम् बुद्धिगम्य के बीच के तात्विक विरोध पर निर्भर रही है या निर्धारित होती रही है।

देरिदा ने हेराक्लिटस एवम् सोफिस्टों की यह मान्यता कि लोगोस(शब्द) परा इंद्रिय, अविभाज्य, एक एवम् चिरंतन है तथा स्टोइकों, बाइबल, सुकरात, प्लेटो, हेगेल एवम् उपनिषदों की यह मान्यता कि लोगोस को चेतना के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है - दोनों को एक धारा में मिला दिया।

देरिदा के मतानुसार लोगोस एवम् लोगोस की चेतना एक ही चीज है।

हेराक्लिटस, सोफिस्टों, स्टोइकों और बाइबल में शब्दकेन्द्रवाद विचार का मुख्य विषय रहा है। भारतीय दर्शन का मुख्य विषय इंद्रियातीत की सहायता से इंद्रियानुभवगम्य विश्व की सहायता करना रहा है। देरिदा ने शब्दकेन्द्रवाद के विरुद्ध विरचना की प्रणाली तीन तरीकों से लगायी है - 1. लोगोस को विक्रेन्द्रित करना, 2. लोगोस को हाशिये पर पहुँचा देना और 3. लोगोस को विरचित करना। देरिदा शब्दकेन्द्रवाद का विरोध कर संकेत को महत्त्व देते हैं। आज का युग सूचना एवम् संकेतों का युग है। इसीलिए तो उत्तर आधुनिकता में यह स्थापित हो गया कि साधारण पाठ बहुत जटिल पाठेतर संरचनाएँ प्रस्तुत कर सकते हैं। सोस्यूर ने भी लिखित शब्द की अपेक्षा वाचित शब्द या विमर्श को वस्तु रचयित तत्त्व के रूप में अधिक महत्त्व दिया है। कविता में लिखे गये सांस्कृतिक सद्भाव के अनेक अर्थ हो सकते हैं। कविता के संदर्भ में इसे संपूर्ण कविता कहते हैं। मिथक का प्रयोग कविता के पाठ के अर्थ पूर्ण ईकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तर आधुनिकता ने भारतीय होने की भावना जगा दी है। दलित साहित्य एवम् ऑचलिक उपन्यास की रचना इसका परिणाम है। संस्कृति या लौकिक तत्त्व पूरी तरह से उत्तर आधुनिक साहित्य का अंग है। इस रूप में उत्तर आधुनिकता भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति तथा शास्त्राचार एवम् लोकाचार -संबंधों का मिश्रण है। संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, नाटक एवम् फिल्म की संकेत पद्धतियाँ उत्तर आधुनिकता में वर्तमान हैं।

इस युग में लेखक अपने उत्तराधिकार, गूढ़ता और अद्वितीयता के प्रति सजग हैं। वे सीधे शब्दों में अपना संदेश पहुँचाने के इच्छुक हैं। वे आख्यानों में नए प्रयोग करते हैं, फैंटसी, विस्मय जैसी साहित्य विधाओं से संबद्ध हो रहे हैं। फिर भी लेखक बिना किसी वचन-बद्धता के शक्तिहीन एवम् राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक हो गये हैं।

देरिदा पाठ को अर्थयुक्त रचना के रूप में नहीं स्वीकारते, वे तो उसमें उपस्थित आंतरिक विसंगतियों की बात करते हैं।

उत्तर आधुनिकता की समस्याएँ–

1. इसमें सिद्धांत-निर्माण नहीं होता।
2. यह अंतरों को परम बनाना चाहते हैं।
3. यह समालोचनात्मक शक्ति समाप्त कर देता है।
4. संस्कृति के नाम पर होने वाले शोषण एवम् अन्याय के प्रति सहिष्णु होने के नाम पर उदासीन होता है।

5. मनुष्य की संभावनाओं को कम कर आँकता है। इस रूप में यह नाशवाद है।
6. यह किसी एक व्याख्या को असंभव करता है।
7. यह पीछे की ओर लौटना नहीं चाहता।
8. यह आधुनिक सांस्कृतिक-सामाजिक अनुभव को पीछे धकेलता है।
9. इसमें ऐतिहासिकता की अनुपस्थिति होती है।

उत्तर आधुनिकता की उपलब्धियाँ

1. बहुलतावाद उत्तर आधुनिकता का मुख्य केन्द्र है। पूर्णता का विघटन इसके लिए आवश्यक शर्त है।
2. प्रौद्योगिकी, नई तकनीकें लगातार हमारे ज्ञान को प्रभावित करती है। अतः हमें प्रासंगिक व वास्तविक ज्ञान की आंतरिक विशेषताओं के प्रति सजग होना होगा।
3. उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकवाद का भविष्योन्मुखी परिवर्तनीय रूप है।
4. इसमें अंतर-व्यक्तिपरकता को जीवंत रखा जाता है।
5. निजी जगत (प्राईवेसी) का खात्मा इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

संक्षेप में, उत्तर आधुनिकतावाद की प्रतिक्रियाएँ ऐसे नये मार्ग दिखाती हैं, जिनसे नये बौद्धिक वातावरण में आधुनिक दर्शन की उपलब्धियों की पुनरूपरीक्षा की जा सकती है एवम् उनके महत्त्व का पुनरूमूल्यांकन करने के लिए नई दृष्टि देती हैं।

उत्तर आधुनिकता और साहित्य

1. कवि किसी निश्चित काव्य-प्रकार में रचना नहीं करता, मुक्त रूप से सर्जन करता है।
2. काव्य-रचनाओं में अनेक अधूरी पंक्तियाँ होती हैं, जिसे पाठक को स्वयं अपनी कल्पना, अपने अनुभव के आधार पर समझना होता है।
3. काव्य का आकार या पाठ महत्त्वपूर्ण नहीं होते, उसमें से व्यक्त होनेवाले अर्थों को, संदर्भों को उजागर करना महत्त्वपूर्ण होता है।
4. कविता मुक्त विचरण करती है।
5. कविता स्वानुभव रसिक नहीं, सर्वानुभव रसिक बन गई है।
6. कवि की दृष्टि एवम् सृष्टि स्व से सर्वकेन्द्री बन गई है।

7. उत्तर आधुनिक कविता वाद विहीन है।
8. दलित साहित्य, ऑचलिक उपन्यास, नारी-विमर्श की रचनाएँ इसका परिणाम है।
9. कृति का अंत हो रहा है। पाठ कृति की जगह ले रहा है। पाठ और विखंडन उत्तर आधुनिकतावादी है।
10. यह कलाकार के लुटते जाने का वक्त है।
11. साहित्य और कला मुनाफे से संबद्ध हो गये हैं, वे जितना अधिक मुनाफा देते हैं, उतने ही मूल्यवान हैं। (जैसे शोभा डे, सुरेन्द्र वर्मा, अरुंधती रॉय आदि की रचनाएँ।)
12. उत्तर आधुनिक कलाकार दार्शनिक की तरह है। वह जो पाठ लिखता है, जो निर्माण करता है, उसके लिए कोई भी पूर्व निर्धारित नियम लागू नहीं होते। उसकी कोई परंपरा नहीं है। वे पूर्ण निर्णयों से जाँचे नहीं जा सकते। हर कृति अपने नियम खोजती है। उत्तर आधुनिक लेखक बिना नियमों के ख-ोलते हैं। इसीलिए साहित्य सिर्फ संभावना होता है, संभव नहीं होता। पाठ या कृति घटना मात्र होती है, उपलब्धि नहीं। इसीलिए वे अपने सर्जक के नहीं होते। उनका अर्जन बहुत तुरत-फुरत होता है।

7

मुक्तिबोध के प्रमुख समालोचक

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850–6 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं, वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र–भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र

चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

जीवन परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 9 सितम्बर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज-भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु होगी और जब दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेन्दु ने साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु' (भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया, जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना

में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)।

सत्य हरिश्चन्द्र (1875,नाटक)।

श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)।

विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)।

भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),

नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।

अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)।

प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)।

सती प्रताप (1883,अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिःपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)।

अनूदित नाट्य रचनाएँ

विद्यासुन्दर (1868,नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)।

पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)।

धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)।

कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)।

भारत जननी (1877,नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाता' के हिंदी अनुवाद पर आधारित)।

मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)।

दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)।

निबंध संग्रह

नाटक

कालचक्र (जर्नल)।
लेवी प्राण लेवी।
भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है।
कश्मीर कुसुम।
जातीय संगीत।
संगीत सार।
हिंदी भाषा।
स्वर्ग में विचार सभा

काव्यकृतियां

भक्तसर्वस्व (1870)।
प्रेममालिका (1871)।
प्रेम माधुरी (1875)।
प्रेम-तरंग (1877)।
उत्तरार्द्ध भक्तमाल (1876-77)।
प्रेम-प्रलाप (1877)।
होली (1879)।
मधु मुकुल (1881)।
राग-संग्रह (1880)।
वर्षा-विनोद (1880)।
विनय प्रेम पचासा (1881)।
फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)।
प्रेम फुलवारी (1883)।
कृष्णचरित्र (1883)।

दानलीला

तन्मय लीला।
नये जमाने की मुकरी।

सुमनांजलि।
बन्दर सभा (हास्य व्यंग)।
बकरी विलाप (हास्य व्यंग)।

कहानी

अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न।
यात्रा वृत्तान्त।
सरयूपार की यात्रा।
लखनऊ।
आत्मकथा।
एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती।
उपन्यास।
पूर्णप्रकाश।
चन्द्रप्रभा।
वर्ण्य विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया, जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार -प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते,
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।

बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा,
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं –

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अत: उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं–

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।

कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था। फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यवहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. **रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली**–श्रृंगारिक कविताओं में,
2. **भावात्मक शैली**–भक्ति के पदों में,
3. **व्यंग्यात्मक शैली**–समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. **उद्‌बोधन शैली**–देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।

महत्त्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। वे हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक

काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेन्दु अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं सम्पूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था -

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होने कहा-

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो-चार आने कौन देगा और साधारण-सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया-आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश हैं जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है, जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होने एक व्यंग्य कविता लिखी-

है है, उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।

रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब-जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ, उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होने तदीय समाज की स्थापना की, जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

हमलोग सर्वांतर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जिसे कपड़ा को पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे, पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी

में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोल-बाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त, मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था –

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं, तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन यानी ड्रेन ऑफ वेल्थ के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंगरेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था–

भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं, इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील

सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय मे, जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था, तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्‌टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है, उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है, और जब आज इस काल में हम लोगों को अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं, तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फ्रांसीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्‌ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्‌टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्‌टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा, फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी, जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्‌टी बँधी रहे, उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्‌टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करें? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णत: खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया।

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा।

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी, क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दु:खी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दु:ख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864–1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग

'द्विवेदी युग' (1900–1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

जीवन परिचय

हिन्दी के महान लेखक व पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में 15 मई 1864 को हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामसहाय दुबे था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी आई पी रेलवे में नौकरी मिल गई। 25 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में 1 वर्ष का प्रवास। नौकरी छोड़कर पिता के पास मुंबई प्रस्थान एवं टेलीग्राफ का काम सीखकर इंडियन मिडलैंड रेलवे में तार बाबू के रूप में नियुक्ति। अपने उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी स्वभाव के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रुपये मासिक वेतन की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के संपादन का कार्यभार सँभाला और उसे सत्रह वर्ष तक कुशलतापूर्वक निभाया। 1904 में नौकरी से त्यागपत्र देने के पश्चात स्थायी रूप से 'सरस्वती' के संपादन कार्य में लग गये। 200 रूपये मासिक की नौकरी को त्यागकर मात्र 20 रूपये प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। संपादन-कार्य से अवकाश प्राप्त कर द्विवेदी जी अपने गाँव चले आए। अत्यधिक रुग्ण होने से 21 दिसम्बर 1938 को रायबरेली में इनका स्वर्गवास हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। उन्होने अनेक विधाओं में रचना की। कविता, कहानी,

आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी केवल कविता, कहानी, आलोचना आदि को ही साहित्य मानने के विरुद्ध थे। वे अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्व, समाजशास्त्र आदि विषयों को भी साहित्य के ही दायरे में रखते थे। वस्तुतः स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन को गति देने वाले ज्ञान-विज्ञान के तमाम आधारों को वे आंदोलित करना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने सिर्फ उपदेश नहीं दिया, बल्कि मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं लिखकर दिखाया।

उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरंतर प्रवहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी थी। उन्होंने श्रीहर्ष के संस्कृत महाकाव्य नैषधीयचरितम् पर अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषधचरित चर्चा ' नाम से लिखी (1899), जो संस्कृत-साहित्य पर हिन्दी में पहली आलोचना-पुस्तक भी है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महाकाव्यों के हिन्दी में औपन्यासिक रूपांतर भी किये, जिनमें कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत , किरातार्जुनीयप्रमुख हैं।

संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य-रचना से साहित्य-साधना का आरंभ करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत और अंग्रेजी से क्रमशः ब्रजभाषा और हिन्दी में अनुवाद-कार्य के अलावा प्रभूत समालोचनात्मक लेखन किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में नाट्यशास्त्र(1904 ई.), विक्रमांकदेव चरितचर्या(1907 ई.), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति(1907 ई.) और संपत्तिशास्त्र(1907 ई.) प्रमुख हैं तथा अनूदित पुस्तकों में शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद, 1906 ई.) और स्वाधीनता (जान, स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, 1907 ई.)।

द्विवेदी जी ने विस्तृत रूप में साहित्य रचना की। इनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या कुल मिलाकर 81 है। पद्य के मौलिक-ग्रंथों में काव्य-मंजूषा, कविता कलाप, देवी-स्तुति, शतक आदि प्रमुख है। गंगालहरी, ऋतु तरंगिणी, कुमार संभव सार आदि इनके अनूदित पद्य-ग्रंथ हैं।

गद्य के मौलिक ग्रंथों में तरुणोपदेश, नैषध चरित्र चर्चा, हिंदी कालिदास की समालोचना, नाटय शास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालीदास की निरंकुशता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में वेकन विचार, रत्नावली, हिंदी महाभारत, वेणी संसार आदि प्रमुख हैं।

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक (1892 ई.)।
कान्यकुब्जावलीव्रतम (1898 ई.)।
समाचार पत्र सम्पादन स्तवः (1898 ई.)।
नागरी (1900 ई.)।
कान्यकुब्ज-अबला-विलाप (1907 ई.)।
काव्य मंजूषा (1903 ई.)।
सुमन (1923 ई.)।
द्विवेदी काव्य-माला (1940 ई.)।
कविता कलाप (1909 ई.)।
पद्य (अनूदित)।

विनय विनोद (1889 ई.)- भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद।

विहार वाटिका (1890 ई.)- गीत गोविन्द का भावानुवाद।

स्नेह माला (1890 ई.)- भर्तृहरि के ' श्रृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद।

श्री महिम्न स्तोत्र (1891 ई.)- संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र' का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद।

गंगा लहरी (1891 ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद।

ऋतुतरंगिणी (1891 ई.)- कालिदास के ';तुसंहार' का छायानुवाद।

सोहागरात (अप्रकाशित)- बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद।

कुमारसम्भवसार (1902 ई.)- कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश

मौलिक गद्य रचनाएँ

नैषध चरित्र चर्चा (1899 ई.)।
तरुणोपदेश (अप्रकाशित)।

हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1901 ई.)।
वैज्ञानिक कोश (1906ई.)।
नाट्यशास्त्र (1912ई.)।
विक्रमांकदेवचरितचर्चा (1907ई.)।
हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907ई.)।
सम्पत्ति-शास्त्र (1907ई.)।
कौटिल्य कुठार (1907ई.)।
कालिदास की निरकुंशता (1912ई.)।
वनिता-विलाप (1918ई.)।
औद्यागिकी (1920ई.)।
रसज्ञ रंजन (1920ई.)।
कालिदास और उनकी कविता (1920ई.)।
सुकवि संकीर्तन (1924ई.)।
अतीत स्मृति (1924ई.)।
साहित्य सन्दर्भ (1928ई.)।
अदभुत आलाप (1924ई.)।
महिलामोद (1925ई.)।
आध्यात्मिकी (1928ई.)।
वैचित्र्य चित्रण (1926ई.)।
साहित्यालाप (1926ई.)।
विज्ञ विनोद (1926ई.)।
कोविद कीर्तन (1928ई.)।
विदेशी विद्वान (1928ई.)।
प्राचीन चिह्न (1929ई.)।
चरित चर्या (1930ई.)।
पुरावृत्त (1933ई.)।
दृश्य दर्शन (1928ई.)।
आलोचनांजलि (1928ई.)।
चरित्र चित्रण (1929ई.)।
पुरातत्त्व प्रसंग (1929ई.)।
साहित्य सीकर (1930ई.)।

विज्ञान वार्ता (1930ई.)।

वाग्विलास (1930ई.)।

संकलन (1931ई.)।

विचार-विमर्श (1931ई.)।

गद्य (अनूदित)।

भामिनी-विलास (1891ई.)–पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद।

अमृत लहरी (1896ई.)–पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद।

बेकन-विचार-रत्नावली (1901ई.)- बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद।

शिक्षा (1906ई.)–हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद।

स्वाधीनता (1907ई.)–जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद।

जल चिकित्सा (1907ई.)–जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी।

हिन्दी महाभारत (1908ई.)-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर।

रघुवंश (1912ई.)–कालिदास के 'रघुवंशम् महाकाव्य का भाषानुवाद।

वेणी-संहार (1913ई.)–संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद।

कुमार सम्भव (1915ई.)–कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद।

मेघदूत (1917ई.)–कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद।

किरातार्जुनीय (1917ई.)–भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद।

प्राचीन पण्डित और कवि (1918ई.)–अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय।

आख्यायिका सप्तक (1927ई.)–अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद।

वर्ण्य विषय

हिंदी भाषा के प्रसार, पाठकों के रुचि परिष्कार और ज्ञानवर्धन के लिए द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे। विषय की दृष्टि से द्विवेदी

जी निबंध आठ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग, शिल्प भाषा, अध्यात्म। द्विवेदी जी ने आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में संस्कृत टीकाकारों की भांति कृतियों का गुण-दोष विवेचन किया और खंडन-मंडन की शास्त्रार्थ पद्धति को अपनाया है।

भाषा

द्विवेदी जी सरल और सुबोध भाषा लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं सरल और प्रचलित भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है, वे गृह के स्थान पर घर और उच्च के स्थान पर ऊँचा लिखना अधिक पसंद करते थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। द्विवेदी जी की भाषा का रूप पूर्णत: स्थित है। वह शुद्ध परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से बंधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी को प्रकृति के अनुरूप है कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं।

शैली

द्विवेदी जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगत होते हैं-

परिचयात्मक शैली

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई। विषय नये और प्रारंभिक होने के कारण द्विवेदी जी ने उनका परिचय सरल और सुबोध शैली में कराया। ऐसे विषयों पर लेख लिखते समय द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भांति एक बात को कई बार दुहराया है, ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार आ जाए। इस प्रकार लेखों की शैली परिचयात्मक शैली है।

आलोचनात्मक शैली

हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी इस शैली में लिखते थे। इस शैली में लिखकर उन्होंने विरोधियों को मुंह-तोड़ उत्तर दिया। यह शैली ओजपूर्ण है। इसमें प्रवाह है और इसकी भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह

शैली ओजपूर्ण न होकर व्यंग्यात्मक हो जाती है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में चुलबुलाहट और वाक्यों में सरलता रहती है। 'इस म्यूनिसिपाल्टी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम है। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कार गुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जाएं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घर-घिरे रहे।'

विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली

गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने इस शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उन लेखों में मिलता है, जो किसी विवादग्रस्त विषय को लेकर जनसाधारण को समझाने के लिए लिखे गए हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं। भाषा सरल है। दूसरा रूप उन लेखों में पाया जाता है, जो विद्वानों को संबोधित कर लिखे गए हैं। इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं। भाषा कुछ क्लिष्ट है। उदाहरण के लिए -

अप्समार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अप्समार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है।

महत्त्वपूर्ण कार्य

हिंदी साहित्य की सेवा करने वालों में द्विवेदी जी का विशेष स्थान है। द्विवेदी जी की अनुपम साहित्य-सेवाओं के कारण ही उनके समय को द्विवेदी युग के नाम से पुकारा जाता है।

भारतेंदु युग में लेखकों की दृष्टि की शुद्धता की ओर नहीं रही। भाषा में व्याकरण के नियमों तथा विराम-चिह्नों आदि की कोई परवाह नहीं की जाती थी। भाषा में आशा किया, इच्छा किया जैसे प्रयोग दिखाई पड़ते थे। द्विवेदी जी ने भाषा के इस स्वरूप को देखा और शुद्ध करने का संकल्प किया। उन्होंने इन अशुद्धियों की ओर आकर्षित किया और लेखकों को शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए विकास का कार्य किया। उन्होंने स्वयं भी खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और अन्य कवियों को भी उत्साहित किया। श्री मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम हैं।

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। उन्हीं के प्रयासों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद हुए तथा हिंदी-संस्कृत के कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए।

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (23 जून 1844- 20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है।

जीवन परिचय

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पिता का नाम पं. वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे, किन्तु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिंदी शब्दसागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू 'याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

उनका जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत

का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया, परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अत: सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे।

कार्यक्षेत्र

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत् 1933 में प्रयाग में हिन्दीवर्धिनी नामक सभा की स्थापना की। उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था 'हिन्दी प्रदीप'। वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली-भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबन्ध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने 'सौ अजान एक सुजान', 'रेल का विकट खेल', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'बाल विवाह' तथा 'भाग्य की परख' आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रमुख कृतियाँ

1. भट्ट जी ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबन्ध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे।
2. निबन्ध संग्रह–साहित्य सुमन और भट्ट निबन्धावली। आत्मनिर्भरता (1893)।
3. उपन्यास–नूतन ब्रह्मचारी , सौ अजान एक सुजान, रहस्यकथा।

3. मौलिक नाटक–दमयन्ती स्वयंवर, बाल-विवाह, चन्द्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि।
4. अनुवाद–भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए, जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

वर्ण्य विषय

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

शैली

भट्ट जी की लेखन - शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में

उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँख', 'नाक', तथा 'कान', आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य न होकर गद्यकाव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

1. वर्णनात्मक शैली- वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली- भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली- इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए- यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली- इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान

भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यासकार अनुवादक विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्वक हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

मिश्र बंधु

मिश्रबंधु नाम के तीन सहोदर भाई थे, गणेशबिहारी, श्यामबिहारी और शुकदेवबिहारी। ग्रंथ ही नहीं एक छंद तक की रचना भी तीनों जुटकर करते थे। इसलिये प्रत्येक की रचनाओं का पार्थक्य करना कठिन है।

जीवन परिचय

मिश्रबन्धु कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'मुहूर्त चिंतामणि' (ज्योतिष ग्रंथ) के प्रणेता चिंतामणि मिश्र इनके पूर्वज थे। इनके पूर्वजों का वासस्थान भगवंतनगर (जिला हरदोई, उत्तर प्रदेश) था। बाद में वे इंटौजा (जिला लखनऊ) चले आये, जहाँ मिश्रबंधुओं का बाल्यकाल बीता। गणेशबिहारी (जन्म संवत् 1922) को हिंदी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा घर पर ही मिली। दो विवाह हुए। दोनों से दो पुत्र हुए। ये लखनऊ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य और उपाध्यक्ष भी रहे। श्याम बिहारी (जन्म संवत 1930) को एम0 एम0 तक की उच्च शिक्षा मिली। 11 वर्ष की उम्र में विवाह हुआ। तीन पुत्र हुए। इन्होंने डिप्टी कलक्टर और डिप्टी कमिश्नर जैसे प्रशासकीय सरकारी पदों पर काम किया। इनका पहला लेख 'सरस्वती भाग' 1 में 'हमीर हठ' विषयक समालोचना का निकला। रायबहादुर शुकदेवबिहारी (जन्म संवत 1935) को भी बी0 ए0 तथा

वकालत तक की शिक्षा मिली। इन्होंने पहले वकालत की शुरुआत कन्नौज में की, फिर लखनऊ चले आए। तत्पश्चात् वे मुंसिफ, दीवान और सबजज हुए। सभी ने हिंदी स्वाध्याय से ही सीखी। सभी बड़े विद्याव्यसनी, उदार, स्वतंत्रचेता और मिलनसार थे। विलायत भी हो आए थे।

प्रमुख रचनाएँ

लवकुश चरित्र,

हिंदी नवरत्न,

मिश्रबंधु विनोद(4 भाग):-गणेशबिहारी मिश्र द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का इतिहास

नेत्रोन्मीलन, पूर्वभारत, उत्तर भारत (नाटक), भारतवर्ष का इतिहास (2 भाग), भारत विनय (पद्य,) बूँदी वारीश (पद्य), पुष्पांजलि (गद्य पद्यमय लेख संग्रह), भूषण ग्रंथावली, देव ग्रंथावली, सुर सुधा, जापान, रूस और स्पेन के इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदुइज्म (अंग्रेजी) इत्यादि।

इनमें हिंदी साहित्य के इतिहास और समालोचना की दृष्टि से 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' का विशिष्ट महत्त्व है। प्रथम में हिंदी के श्रेष्ठ नौ कवियों तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, केशव, मतिराम, चंदबरदायी, हरिश्चन्द्र को क्रमशः बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी में श्रेणीबद्ध कर जीवनी के साथ उनके काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरी रचना 'मिश्रबंधु विनोद' में पाँच हजार के लगभग कवियों एवं लेखकों का परिचायत्मक उल्लेख हुआ है। इनकी समीक्षा पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता श्रेणी विभाजन है, जिसके मूल में शास्त्रीयतायुक्त काव्योत्कर्ष और तुलना है। दोषों की अपेक्षा गुणों की ही चर्चा अधिक की गई है। इतना होने पर भी इनकी समीक्षा में मार्मिक निरूपण, संतुलन निर्वाह, तटस्थता, विश्लेषण, तर्क, प्रौढ़ विवेचन की कमी दिखाई पड़ती है।

पद्मसिंह शर्मा

पं. पद्मसिंह शर्मा (1876 ई0 - 1932 ई0) आर्य विचारक, दार्शनिक, समीक्षक, संपादक, परोपकारी, हिन्दी साहित्यकार, प्रसिद्ध लेखक और समालोचक थे। हिन्दी का सर्वोच्च पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक उन्हें ही सबसे पहले दिया गया। आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के प्रधान पद को भी सुशोभित

किया। वे द्विवेदी युग के गद्य लेखकों तथा समालोचकों में विशेष स्थान रखते थे। वे संस्कृत भाषा के तो विशेष विद्वान थे ही, इसके साथ ही उन्हें उर्दू, फारसी, बंगला और मराठी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था।

उनकी लेखन शैली अनुपम थी। रेखाचित्र व संस्मरण इन दो विधाओं का प्रवर्तन हिन्दी में उन्होंने ही किया था। महाकवि अकबर और कविरत्न सत्यनारायण के जो संस्मरण उन्होंने लिखे हैं वे नये लेखकों को प्रेरणा व प्रकाश देने के लिए पर्याप्त हैं। उनकी लिखी हुई बिहारी-सतसई की टीका उनके ब्रजभाषा प्रेम का अनूठा उदाहरण है।

पं0 पद्मसिंह शर्मा जी का जन्म सन् 1876 ई0 दिन रविवार फाल्गुन सुदि 12 संवत् 1933 वि0 को बिजनौर के चांदपुर स्याऊ रेलवे स्ट्रेशन से चार कोस उत्तर की ओर नायक नामक छोटे से गाँव में हुआ। इनके पिता श्री उमरावसिंह जी गाँव के मुखिया, प्रतिष्ठित, परोपकारी एवं प्रभावशाली पुरूष थे। पैतृक पेशा जमींदारी और खेती था। पिताजी के समय में खैंची-राव का काम भी होता था। आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। इनके पिता आर्यसमाजी विचारधारा के थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति उनकी अत्यन्त श्रद्धा थी। इसी कारण उनकी रूचि विशेष रूप से संस्कृत की ओर हुई। उन्हीं की कृपा से इन्होंने अनेक स्थानों पर रहकर स्वतंत्र रूप से संस्कृत का अध्ययन किया।

जब ये 10-11 वर्ष के थे तो इन्होंने अपने पिताश्री से ही अक्षराभ्यास किया। फिर मकान पर कई पण्डित अध्यापकों ये संस्कृत में सारस्वत, कौमुदी और रघुवंश आदि का अध्ययन किया।

सन् 1909 ई0 में इनका आगमन ज्वालापुर महाविद्यालय में हुआ। यहाँ इन्होंने 'भारतोदय' (महाविद्यालय का मासिक मुख्य पत्र) का सम्पादन एवं साथ ही अध्यापन कार्य किया। सन् 1911 ई0 में इन्होंने महाविद्यालय की प्रबन्ध-समिति के मन्त्री पद पर भी कार्य किया। इस प्रकार महाविद्यालय की अविरत सेवा करते रहे। इनके सम्पादकत्व में 'भारतोदय' पत्रिका ने खूब ख्याति प्राप्त की। सन् 1917 में इनके पिताजी का देहान्त हो गया। इस कारण इन्हें महाविद्यालय छोड़कर घर आना पड़ा। इस प्रकार महाविद्यालय के साथ इनका 9 वर्ष तक सम्बन्ध रहा। इनके अथक प्रयासों से महाविद्यालय निरन्तर उन्नति के पथ की और अग्रसर होता रहा।

महाविद्यालय छोड़ने के बाद शिवप्रसाद गुप्त के अनुरोध पर ये सन् 1918 में 'ज्ञानमण्डल' में गये।

'बिहारी सतसई की भूमिका', 'बिहारी सतसई संजीवन भाष्य', 'पद्मपुराण' और 'हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी' उनके द्वारा रचित प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। 'संजीवन भाष्य' पर पद्मसिंह शर्मा को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' मिला था।

प्रशंसा करने और प्रोत्साहन देने में वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने अपने इस देवगुण का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कदापि नहीं किया, उसका प्रयोग उन्होंने लोकहित में किया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अच्छे लेखक बनाने का बहुत कुछ श्रेय उनके लेखन-गुरू पं. पद्मसिंह शर्मा को जाता है। पद्मसिंह जी ने सरस्वती की तरह अज्ञात रहकर हिन्दी को कई नये लेखक दिये। उन्होंने परिचयहीन रहकर निष्काम साधना को अधिक महत्त्व दिया।

श्यामसुन्दर दास

डॉ. श्यामसुंदर दास (सन् 1875 - 1945 ई.) हिंदी के अनन्य साधक, विद्वान्, आलोचक और शिक्षाविद् थे। हिंदी साहित्य और बौद्धिकता के पथ-प्रदर्शकों में उनका नाम अविस्मरणीय है। हिंदी-क्षेत्र के साहित्यिक-सांस्कृतिक नवजागरण में उनका योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने और उनके साथियों ने मिलकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की।

विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई के लिए अगर बाबू साहब के नाम से मशहूर श्याम सुंदर दास ने पुस्तकें तैयार न की होतीं तो शायद हिंदी का अध्ययन-अध्यापन आज सबके लिए इस तरह सुलभ न होता। उनके द्वारा की गयी हिंदी साहित्य की पचास वर्षों तक निरंतर सेवा के कारण कोश, इतिहास, भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, सम्पादित ग्रंथ, पाठ्य-सामग्री निर्माण आदि से हिंदी-जगत समृद्ध हुआ। उन्हीं के अविस्मरणीय कामों ने हिंदी को उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए विश्वविद्यालयों में गौरवपूर्वक स्थापित किया।

बाबू श्याम सुंदर दास ने अपने जीवन के पचास वर्ष हिंदी की सेवा करते हुए व्यतीत किए उनकी इस हिंदी सेवा को ध्यान में रखते हुए ही राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं-

मातृभाषा के हुए जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्याम सुंदरदास।।

डॉ. राधा कृष्णन के शब्दों में, बाबू श्याम सुंदर अपनी विद्वत्ता का वह आदर्श छोड़ गए हैं, जो हिंदी के विद्वानों की वर्तमान पीढ़ी को उन्नति करने की प्रेरणा देता रहेगा।

जीवनी एवं हिन्दीसेवा

बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म विद्वानों की काशी में 14 जुलाई 1875 को हुआ था। इनका परिवार लाहौर से आकर काशी में बस गया था और कपड़े का व्यापार करता था। इनके पिता का नाम लाला देवीदास खत्री था। बनारस के क्वींस कालेज से अँगरेजी में 1897 में बी. ए. किया। जब इंटर के छात्र थे तभी सन् 1893 में मित्रों रामनारायण मिश्र और शिवकुमार सिंह के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की नींव डाली और 45 वर्षों तक निरंतर उसके संवर्धन में बहुमूल्य योग देते रहे। 1896 में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' निकलने पर उसके प्रथम संपादक नियुक्त हुए और बाद में कई बार वर्षों तक उसका संपादन किया। 'सरस्वती' के भी आरंभिक तीन वर्षों (1900 से1902) तक संपादक रहे। 1899 में हिंदू स्कूल के अध्यापक नियुक्त हुए और कुछ दिनों बाद हिंदू कालेज में अंग्रेजी के जूनियर प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1909 में जम्मू महाराज के स्टेट आफिस में काम करने लगे, जहाँ दो वर्ष रहे। 1913 से 1921 तक लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में हेडमास्टर रहे। इनके उद्योग से विद्यालय की अच्छी उन्नति हुई। 1921 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खुल जाने पर इन्हें अध्यक्ष के रूप में बुलाया गया। पाठ्यक्रम के निर्धारण से लेकर हिंदी भाषा और साहित्य की विश्वविद्यालयस्तरीय शिक्षा के मार्ग की अनेक बाधाओं को हटाकर योग्यतापूर्वक हिंदी विभाग का संचालन और संवर्धन किया। इस प्रकार इन्हें हिंदी की उच्च शिक्षा के प्रवर्तन और आयोजन का श्रेय है। उस समय विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों और अलोचना ग्रंथों का अभाव था। इन्होंने स्वयं अपेक्षित ग्रंथों का संपादन किया, समीक्षाग्रंथ लिखे और अपने सुविज्ञ सहयोगियों से लिखवाए।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से श्री श्यामसुंदरदास ने हिंदी की बहुमुखी सेवा की और ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का सूत्रपात एवं संचालन किया, जिनसे हिंदी की अभूतपूर्व उन्नति हुई। न्यायालयों में नागरी के प्रवेश के लिए मालवीय जी आदि की सहायता में उन्होंने सफल उद्योग किया। हिंदी वैज्ञानिक कोश के निर्माण में भी योग दिया। हिंदी की लेख तथा लिपि प्रणाली के संस्कार के लिए आरंभिक प्रयत्न (1898) किया। हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का काम आरंभ कर इन्होंने उसे नौ वर्षों तक चलाया और उसकी सात रिपोर्टें लिखीं। 'हिंदी शब्दसागर' के ये प्रधान संपादक थे। यह विशाल शब्दकोश इनके अप्रतिम बुद्धिबल और कार्यक्षमता का प्रमाण है। 1907 से 1929 तक अत्यंत

निष्ठा से इन्होंने इसका संपादन और कार्यसंचालन किया। इस कोश के प्रकाशन के अवसर पर इनकी सेवाओं को मान्यता देने के निमित्त 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' के रूप में इन्हें अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया गया।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापनकार्य के समय उच्च अध्ययन में उपयोग के लिए इन्होंने भाषाविज्ञान, आलोचना शास्त्र और हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास क्रम पर श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे।

श्यामसुंदरदास का व्यक्तित्व तेजस्वी और जीवन हिंदी की सेवा के लिए अर्पित था। जिस जमाने में उन्होंने कार्य शुरु किया उस समय का वातावरण हिंदी के लिए अत्यंत प्रतिकूल था। सरकारी कामकाज और शिक्षा आदि के क्षेत्रों में वह उपेक्षित थीं। हिंदी बोलनेवाला अशिक्षित समझा जाता था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में हिंदी के प्रचार प्रसार और संवर्धन के लिए उन्होंने कशी नागरीप्रचारिणी सभा को केंद्र बनाकर जो अभूतपूर्व संघबद्ध प्रयत्न किया, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। ये उच्च कोटि के संगठनकर्ता और व्यवस्थापक थे। समर्थ मित्रों के सहयोग और अपने बुद्धिबल तथा कर्मठता से उन्होंने हिंदी की उन्नति के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का डटकर सामना किया और सफलता प्राप्त की। उनकी दृष्टि व्यक्तियों की क्षमता पहचानने में अचूक थी। उन्होंने अनेक व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर साहित्य के क्षेत्र में ला खड़ा किया। इसीलिए कहा गया है कि उन्होंने 'ग्रंथों की ही नहीं, ग्रंथकारों की भी रचना की'।

उनकी हिंदी सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेज सरकार ने 'रायबहादुर', हिंदी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्यवाचस्पति' और काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की सम्मानोपाधि प्रदान की।

ग्रंथ-रचना

बाबू श्याम सुंदर दास ने अनेक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने लगभग सौ ग्रंथों का संपादन किया। उन्हें अप्रकाशित पुस्तकों की खोज करके प्रकाशित कराने का शौक था। उनके मौलिक ग्रंथों में साहित्यालोचन, भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा का विकास, गोस्वामी तुलसी दास, रूपक रहस्य आदि प्रमुख हैं।

इन्होंने परिचयात्मक और आलोचनात्मक ग्रंथ लिखने के साथ ही कई दर्जन पुस्तकों का संपादन किया। पाठ्यपुस्तकों के रूप में इन्होंने कई दर्जन सुसंपादित संग्रह ग्रंथ प्रकाशित कराए। इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं - हिंदी कोविद रत्नमाला भाग 1, 2 (1909-1914), साहित्यालोचन (1922), भाषाविज्ञान

(1923), हिंदी भाषा और साहित्य (1930) रूपकहस्य (1931), भाषारहस्य भाग 1 (1935), हिंदी के निर्माता भाग 1 और 2 (1940-41), मेरी आत्मकहानी (1941), कबीर ग्रंथावली (1928), साहित्यिक लेख (1945)।

श्याम सुंदर दास ने अपना पूरा जीवन हिंदी-सेवा को समर्पित कर दिया। उनके इस तप-यज्ञ से अनेक पुस्तकें साहित्य को प्राप्त हुईं—जैसे नागरी वर्णमाला (1896), हिंदी कोविद रत्नमाला (भाग 1 और 2) (1900), हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों का वार्षिक खोज विवरण (1900-05), हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (1906-08), साहित्य लोचन (1922), भाषा-विज्ञान (1929), हिंदी भाषा का विकास (1924), हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण (1933), गद्य कुसुमावली (1925), भारतेंदु हरिश्चंद्र (1927), हिंदी भाषा और साहित्य (1930), गोस्वामी तुलसीदास (1931), रूपक रहस्य (1913), भाषा रहस्य (भाग-1, 1935), हिंदी गद्य के निर्माता (भाग 1 और 2) (1940) और आत्मकथा मेरी आत्म कहानी (1941)।

श्याम सुंदर दास ने सम्पादन के क्षेत्र में तो अद्‌भुत, अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया—जैसे, नासिकेतोपाख्यान अर्थावली (1901), छत्रप्रकाश (1903), रामचरितमानस (1904), पृथ्वीराज रासो (1904), हिंदी वैज्ञानिक कोष (1906), वनिता विनोद (1906), इंद्रावती (भाग-1, 1906), हम्मीर रासो (1908), शकुंतला नाटक (1908), प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन की लेखावली (1911), बाल विनोद (1913), हिंदी शब्द सागर (खण्ड- 1 से 4 तक, 1916), मेघदूत (1920), दीनदयाल गिरि ग्रंथावली (1921), परमाल रासो (1921), अशोक की धर्मलिपियाँ (1923), रानीखेत की कहानी (1925), भारतेंदु नाटकावली (1924), कबीर ग्रंथावली (1928), राधाकृष्ण ग्रंथावली (1930), द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (1933), रत्नाकर (1933), सतसई सप्तक (1933), बाल शब्द सागर (1935), त्रिधारा (1935), नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1 से 18 तक), मनोरंजन पुस्तक माला (1 से 50 तक), सरस्वती (1900 तक)।

बाबू श्याम सुंदर दास ने इतना काम हिंदी साहित्य के लिए किया है कि वे एक व्यक्ति से ज्यादा संस्था बन गये। उन्होंने मानस सूक्तावली (1920), संक्षिप्त रामायण (1920), हिन्दी निबंधमाला (भाग-1ध्2, 1922), संक्षिप्त पद्‌मावली (1927) और हिंदी निबंध रत्नावली (1941) का सम्पादन भी किया।

विद्यार्थियों के लिए उन्होंने उच्चस्तरीय पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं। इस तरह की पाठ्य पुस्तकों में भाषा सार संग्रह (1902), भाषा पत्रबोध (1902), प्राचीन लेखमाला (1903), हिंदी पत्र-लेखन (1904), आलोक चित्रण (1902), हिंदी प्राइमर (1905), हिंदी की पहली पुस्तक (1905), हिंदी ग्रामर (1906), हिंदी संग्रह (1908), गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया (1908), बालक विनोद (1908), नूतन-संग्रह (1919), अनुलेख माला (1919), हिंदी रीडर (भाग-6/7, 1923), हिंदी संग्रह (भाग-1/2, 1925), हिंदी कुसुम संग्रह (भाग-1/2, 1925), हिंदी कुसुमावली (1927), हिंदी-सुमन (भाग-1 से 4, 1927), हिंदी प्रोज सिलेक्शन (1927), गद्य रत्नावली (1931), साहित्य प्रदीप (1932), हिंदी गद्य कुसुमावली (1936), हिंदी प्रवेशिका पद्यावली (1939), हिंदी गद्य संग्रह (1945), साहित्यिक लेख (1945)।

श्याम सुंदर दास जीवन के अंतिम क्षण तक साहित्य-सेवा में सक्रिय रहे। स्वतंत्रता से ठीक पहले और बाद की हिंदी की पूरी पीढ़ी ही बाबूजी के कंधों पर बैठकर ही बढ़ी हुई।

समय-समय पर विभिन्न विषयों पर सम्मेलनों में दिये जाने वाले उनके वक्तव्यों की संख्या अनगिनत है। इस समस्त चिंतन पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किस तरह हिंदी साहित्य को अनेक विषयों से जोड़कर आगे बढ़ाना चाहते थे। आज भी बाबूजी की बहुत बड़ी देन है पाठ्य-सामग्री की प्रामाणिक रचना तथा अध्ययन के क्षेत्र का विवेक। विद्यार्थियों के लिए ताजा सामग्री लाने के उनके हर क्षण के प्रयास का नतीजा यह हुआ कि वे संग्रहकार बनते रहे। आलोचना की जाती है कि इसी कारण उनके लेखन में गहरायी और मौलिकता का अभाव होता गया। लेकिन देखने की बात यह है कि उनकी समन्वयवादी बुद्धि अनेक ज्ञान- क्षेत्रों की सामग्री-संग्रह में निमग्न रही। यहाँ तक कि व्यावहारिक-आलोचना में भी बाबूजी ने सामंजस्यवाद का सौंदर्य स्थापित किया। इसीलिए उनकी आलोचना में तुलना, ऐतिहासिक दृष्टि, व्याख्या, भाष्य आदि का प्रवेश होता गया। इस तरह हिंदी में व्यावहारिक-आलोचना का आरम्भिक मार्ग भी उन्होंने तैयार किया। उनका यह कुशल नेतृत्व आगे चलकर हिंदी-भाषी क्षेत्र के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

वर्ण्य विषय

बाबू श्याम सुंदर दास ने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों ही एक प्रकार के निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों के विषय में पर्याप्त विविधता है। उन्होंने बहुत

से अछूते विषयों पर भी लेखनी चलाई कवियों की खोज तथा इतिहास संबंधी निबंधों में उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

भाषा

बाबू श्याम सुंदर दास की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिंदी है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। भाषा के संबंध में उनका विचार था- 'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तब उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाए और वे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों।' इसलिए जहाँ कहीं उन्होंने अपनी भाषा में 'उर्दू' के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ उनका उर्दूपन निकाल दिया है, कलम, कवायद, कानून आदि शब्दों के नीचे की बिंदी हटाकर और उनके उच्चारण बदल कर उन्होंने उनका प्रयोग लिया है। इसी प्रकार संस्कृत के शब्दों की क्लिष्टता दूर कर के उन्हें हिंदी में सरल ढंग से लिखा है- जैसे- कार्य के स्थान पर कार्य, अंजन के स्थान पर अंजन।

शब्द चयन के बारे में बाबू श्यामसुंदर दास का मत था- 'सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों का और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाए। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।

शैली

बाबू श्यामसुन्दर दास ने मुख्यत: दो प्रकार की शैलियों में लिखा है-

1. विचारात्मक शैली- विचारात्मक शैली में विचारात्मक निबंध लिखे गए हैं। इस शैली के वाक्य छोटे-छोटे तथा भावपूर्ण हैं। भाषा सबल, सरल और प्रवाहमयी है। उदाहरणार्थ-

गोपियों का स्नेह बढ़या है। ये कृष्ण के साथ रास लीला में संकलित होती हैं। अनेक उत्सव मनाती है। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी।

2. गवेषणात्मक शैली- गवेषणात्मक निबंधों में गवेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इनमें वाक्य अपेक्षाकृत कुछ लंबे हैं। भाषा के तत्सम शब्दों

की अधिकता है। विषय की गहनता तथा शुष्कता के कारण यह शैली में कुछ शुष्क और रहित है। इस प्रकार की शैली का एक उदाहरण देखिए-

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दु:खमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रति क्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

बाबू श्याम सुंदरदास की किसी प्रकार की शैली में अलंकारों की सजावट नहीं पाई जाती। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग तो नहीं के बराबर हुआ है। अपने विचारों को भली प्रकार समझाने के लिए बाबू श्याम सुन्दर दास ने एक ही बात को 'सारांश यह है' 'अथवा', 'जैसे' आदि शब्दों के साथ बार-बार दुहराया है।

साहित्य सेवा और स्थान

हिंदी साहित्य में बाबू श्याम सुंदर दास का स्थान उनके हिंदी प्रचारक और हिंदी उन्नायक के रूप में। उन्होंने अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की। अनेक ग्रंथों का संपादन किया। काशी नगरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। उन्होंने अपने प्रयत्नों से हिंदी को विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं में स्थान दिलाया।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आने से पूर्व उन्होंने 1900 में हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिए न्यायालयों में हिंदी के प्रवेश का आंदोलन चलाया। 1900 तक श्यामसुंदर दास ने ही सरस्वती पत्रिका का सम्पादन किया। उन्होने हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की तथा हिंदी शब्दसागर का भी सम्पादन किया। 1902 में नागरी प्रचारिणी सभा के भवन का निर्माण भी उन्हीं की देख-रेख में कराया गया। 1907 में उन्होंने हिंदी आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना की, प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सम्पादन किया और शिक्षा स्तर के अनुरूप पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कार्य भी आरंभ किया।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखा है –

बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिए सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिंदी पुस्तकों की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास, कवियों के चरित और उन पर प्रबंध आदि लिखने का बहुत बड़ा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार हिंदी के नये-पुराने लेखकों के जीवनवृत्त हिंदी

कोविद रत्नमाला के दो भागों में संगृहीत किये हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकों, भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्य लोचन, भी आपने लिखी या संकलित की है।

श्याम सुंदर दास न केवल संस्थान-निर्माता थे, बल्कि प्रबंध-कला में भी बेजोड़ थे। साहित्य के समस्त क्षेत्रों के अभावों को दूर करने के लिए उन्होंने संकल्पबद्ध होकर श्रम किया। भाषा तत्त्ववेत्ता के रूप में या सिद्धांतों के व्याख्याता रूप में उन्हीं की उपलब्धियों के कारण साहित्यालोचन हिंदी के विद्यार्थियों का बहुत समय तक कंठहार बना रहा। इनके मन में यह धारणा निर्भात रही कि हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा का आधार संस्कृत और पश्चिमी आलोचना-सिद्धांतों को मिला कर और उन्हें एक खास सामंजस्य के साथ ही बनाया जाना चाहिए। श्याम सुंदर दास से पहले हिंदी और नागरी लिपि के लिए विशेष रूप से संकटपूर्ण समय था। प्रताप नारायण मिश्र ने कई स्थानों पर हिंदी के प्रचार के लिए सभाएँ स्थापित की थीं। ऐसी ही एक सभा 1884 में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य भारत सभा' के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित की गयी। सरकारी दक्रतरों में नागरी के प्रवेश के लिए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी कई बार उद्यम किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। इसके बावजूद प्रयत्न बराबर चलता रहा। अदालती भाषा उर्दू होने के कारण नवशिक्षितों में उर्दू पढ़ने वालों की संख्या अधिक थी, जिससे हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य आगे नहीं बढ़ पाता था। इस साहित्य-संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दक्रतरों में न होने से नागरी जानने वाली जनता के सामने घोर संकट था। इसी दौर में कुछ उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमें बाबू श्याम सुंदर दास प्रमुख थे, 1893 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की गयी। यहाँ भी रामचंद्र शुक्ल का कथन याद रखना चाहिए कि, 'सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबू श्याम सुंदर दास के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे आदि से अंत तक इसके प्राणस्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभापति भारतेंदु के फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास हुए।' नागरी प्रचार के आंदोलन ने हिंदी-प्रेमियों में नया उत्साह पैदा किया और बहुत से लोग साहित्य की श्रीवृद्धि में समर्पित भाव से लग गये।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4 अक्टूबर, 1884- 2 फरवरी, 1941) हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और

कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनव्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अत: परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों

में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं।

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं–

आलोचनात्मक ग्रंथ–सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ–उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है, जिसमें शुक्लजी की लेखन शैली गत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्त्व है, क्रोधी की मानसिकता-जैसै समबन्धित पेहलुओ का विश्लेश्ण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनूदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनूदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्राय: साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं –

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध– 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ-साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्रा में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंध– भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध– मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्राय: दो रूप मिलते हैं –

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती

है, वह पूर्णत: विद्यमान है। अत: इस प्रकार को भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यावहारिक

भाषा का सरल और व्यवहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क अटकल-पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है। तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्त्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप हैं -

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यावहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे - बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है, जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम 'बिंबग्रहण' या 'चित्रानुभव' कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं, जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को

कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है, उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्त्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सारर्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी (19 अगस्त 1907 - 19 मई 1979) हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई0 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से द्विवेदीजी ने शांति निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरूदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया। बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप

में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया।ख1,

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बां्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है।

रचनाएँ

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

आलोचनात्मक

सूर साहित्य (1936)।
हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)।
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)।
कबीर (1942)।
नाथ संप्रदाय (1950)।
हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)।
आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)।

साहित्य का मर्म (1949)।
मेघदूतः एक पुरानी कहानी (1957)।
लालित्य तत्त्व (1962)।
साहित्य सहचर (1965)।
कालिदास की लालित्य योजना (1965)।
मध्ध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)।
हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास (1952)।
मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)।
सहज साधना (1963)।

निबंध संग्रह

अशोक के फूल (1948)।
कल्पलता (1951)।
विचार और वितर्क (1954)।
विचार-प्रवाह (1959)।
कुटज (1964)।

विश के दन्त

उपन्यास
बाणभट्‌ट की आत्मकथा (1946)।
चारु चंद्रलेख(1963)।
पुनर्नवा(1973)।
अनामदास का पोथा(1976)।

अन्य

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)।
संदेश रासक (1960)।
सिक्ख गुरूओं का पुण्य स्मरण (1979)।
महापुरुषों का स्मरण (1977)।

ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई0 में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई0 में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त वृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन 2011 ई0 में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक–सं.-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली सेय नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से)।

दूसरी परम्परा की खोज–नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)।

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से)।

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–व्यक्तित्व और कृतित्व - सं0- डॉ0 व्यास मणि त्रिपाठी (2008, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्टब्लेयर, अंडमान से)।

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)–विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)।

हजारीप्रसाद द्विवेदी–समग्र पुनरावलोकन - चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सेय हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण)।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्रा - नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलनय राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)।

रचनात्मक वैशिष्ट्य

वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं, जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है।

भाषा

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं - (1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

शैली

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं-

(1) गवेषणात्मक शैली द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए - लोक और शास्त्र का समन्वय, ग्राहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय,निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।

(2) वर्णनात्मक शैली द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

(3) व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(4) व्यास शैली द्विवेदी जी ने जहां अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहां उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

महत्त्वपूर्ण कार्य

द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गई। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

मानवतावाद और द्विवेदी जी

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है।

सम्मान

हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन् 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

डॉ. नगेन्द्र

डॉ. नगेन्द्र (जन्म: 9 मार्च 1915 अलीगढ़, मृत्यु: 27 अक्टूबर 1999 नई दिल्ली) हिन्दी के प्रमुख आधुनिक आलोचकों में थे। वे एक सुलझे हुए विचारक और गहरे विश्लेषक थे।

अपनी सूझ-बूझ तथा पकड़ के कारण वे गहराई में पैठकर केवल विश्लेषण ही नहीं करते, बल्कि नयी उद्भावनाओं से अपने विवेचन को विचारोत्तेजक भी बना देते थे। उलझन उनमें कहीं नहीं थी। 'साधारणीकरण' सम्बन्धी उनकी उद्भावनाओं से लोग असहमत भले ही रहे हों, पर उसके कारण लोगों को उस सम्बन्ध में नये ढंग से विचार अवश्य करना पड़ा है। 'भारतीय काव्य-शास्त्र' (1955ई.) की विद्वत्तापूर्ण भूमिका प्रस्तुत करके उन्होंने हिन्दी में एक बड़े अभाव की पूर्ति की। उन्होंने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र–सिद्धांत और वाद' नामक आलोचनात्मक कृति में अपनी सूक्ष्म विवेचन-क्षमता का परिचय भी दिया। अरस्तू के काव्यशास्त्र की भूमिका-अंश उनका सूक्ष्म पकड़, बारीक विश्लेषण और अध्यवसाय का परिचायक है। बीच-बीच में भारतीय काव्य-शास्त्र से तुलना करके उन्होंने उसे और भी उपयोगी बना दिया है। उन्होंने हिंदी मिथक को भी परिभाषित किया है।

जन्म और शिक्षा

उनका जन्म मार्च, 1915 ई. में अतरौली (अलीगढ़) में हुआ था। उन्होंने अंग्रेजी और हिन्दी में एम.ए. करने के बाद हिंदी में डी.लिट. की उपाधि भी ली।

कार्यक्षेत्र

डा नगेंद्र का साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरंभ होता है। सन 1937 ई. में उनका पहला काव्य संग्रह 'वनबाला' प्रकाशित हुआ। इसमें विद्यार्थीकाल

की गीति-कविताएँ संग्रहीत हैं। एम.ए. करने के बाद वे दस वर्ष तक दिल्ली के कामर्स कॉलेज में अंग्रेजी के अध्यापक रहे। पाँच वर्ष तक 'आल इंडिया रेडियो' में भी कार्य किया। बाद में वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यक्ष पद से निवृत्त होकर वहीं रहने लगे थे।

27 अक्टूबर 1999 को नई दिल्ली में उनका निधन हुआ।

समालोचना

डा नगेंद्र की शैली तर्कपूर्ण, विश्लेषणात्मक तथा प्रत्यायक है। यह सब होते हुए भी उसमें सर्वत्र एक प्रकार की अनुभूत्यात्मक सरसता मिलती है। वे अपने निबंधों और प्रबंधों को जब तक अपनी अनुभूति का अंग नहीं बना लेते, तब तक उन्हें अभिव्यक्ति नहीं देते। अत: उनकी समीक्षाओं में विशेषरूप से निबंधों में भी सर्जना का समावेश रहता है।

'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित उनके लेखों ने उनकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उनकी तीन आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई - 'सुमित्रानंदन पंत' (1938ई.), 'साकेत- एक अध्ययन' (1939ई.) और 'आधुनिक हिंदी नाटक' (1940ई.)। पहली पुस्तक का पाठकों और आलोचकों के बीच खूब स्वागत हुआ। वे अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचकों की कृतियों से प्रभावित थे और उन कृतियों की तरह ही वे उच्चस्तरीय समीक्षा-पुस्तक प्रस्तुत करना चाहते थे। 'साकेत-एक अध्ययन' पर इस मनोवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

'आधुनिक हिंदी नाटक' में उनके आलोचक स्वरूप ने एक नया मोड़ लिया और वे फ्रायडीय मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ गए। उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर नाटक और नाटककारों की आलोचनाएँ लिखीं। बाद में क्रोचे आदि के अध्ययन के फलस्वरूप उनका झुकाव सैद्धांतिक आलोचना की ओर हुआ। 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' (1949 ई. - शोध ग्रंथ) के भूमिका भाग में भारतीय काव्य-शास्त्र पर विचार किया गया है, जिसमें उनके मनोविश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन से काफी सहायता मिली है।

नगेंद्र मूलत: रसवादी आलोचक हैं, रस सिद्धांत में उनकी गहरी आस्था है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र को उन्होंने एक उपकरण के रूप में ग्रहण किया है, जो रस सिद्धांत के विश्लेषण में पोषक की सिद्ध हुआ है। हिंदी की आलोचना पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का गहरा प्रभाव पड़ा है और सच पूछिए तो

आज की हिंदी- आलोचना शुक्ल जी के सिद्धांतों का अगला कदम ही है। नगेंद्र पर भी शुक्ल जी का प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि रस-सिद्धांतों की ओर उनके झुकाव के मूल में शुक्ल जी का ही प्रभाव है। नगेंद्र जी काव्य में रस-सिद्धांत को अंतिम मानते हैं। इसके बाहर न तो वे काव्य की गति मानते हैं और न सार्थकता।

पौरस्त्य आचार्यों में वे भट्टनायक और अभिनवगुप्त से विशेष प्रभावित हैं और पाश्चात्य आलोचकों में क्रोचे और आई.ए. रिचर्डस से। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र दोनों का गहरा आलोकन किया है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनका कहना है कि सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में भारतीय-काव्य शास्त्र पश्चिमी काव्य-शास्त्र से कहीं आगे बढ़ा हुआ है।

भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य-बोध के संबंध में अलग-अलग पद्धतियाँ अपनाई हैं। भारतीय आचार्यों ने काव्य-चर्चा करते समय सहृदय को विवेचन का केंद्रीय विषय माना है तो पाश्चात्य आचार्यों ने कवि को केंद्रीय विषय मानकर सृजन-प्रक्रिया की व्याख्या की है। ये दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, अपने आप में प्रत्येक एकांगी ही रह जाती हैं। नगेंद्र ने इन दोनों पद्धतियों के समन्वय का प्रयास किया है।

प्रमुख कृतियाँ

आपकी अन्य मौलिक रचनाओं में 'विचार और विवेचन' (1944), 'विचार और अनुभूति' (1949), 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (1951), 'विचार और विश्लेषण' (1955), 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' (1957), 'अनुसंधान और आलोचना' (1961), 'रस-सिद्धांत (1964), 'आलोचक की आस्था' (1966), 'आस्था के चरण' (1969), 'नयी समीक्षा: नये संदर्भ (1970), 'समस्या और समाधान' (1971) प्रमुख हैं।

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय (17 जनवरी 1888 - 13 अप्रैल 1963) हिन्दी के आलोचक तथा निबन्धकार थे।।

परिचय

बाबू गुलाबराय का जन्म इटावा, उत्तर प्रदेश में हुआ। उनके पिता श्री भवानी प्रसाद धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनकी माता भी कृष्ण की उपासिका

थीं और सूर, कबीर के पदों को तल्लीन होकर गाया करती थीं। माता-पिता की इस धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव बाबू गुलाबराय जी पर भी पड़ा। गुलाब राय जी की प्रारम्भिक शिक्षा मैनपुरी में हुई। तहसीली स्कूल के पश्चात उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के लिए जिला विद्यालय में भेजा गया। एन्ट्रेस परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने आगरा कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा पास की। दर्शन शास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात गुलाबराय जी छतरपुर चले गए और वहाँ के महाराज के निजी सचिव हो गए। इसके बाद वे वहाँ दीवान और चीफ जज भी रहे। छतरपुर महाराजा के निधन के पश्चात गुलाबराय जी ने वहाँ से अवकाश ग्रहण किया और आगरा आकर रहने लगे। आगरा आकर उन्होंने सेंट जॉन्स में हिंदी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य किया। गुलाबराय जी अपने जीवन के अंतिम काल तक साहित्य-साधना में लीन रहे। उनकी साहित्यिक सेवाओं के फलस्वरूप आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि से सम्मानित किया। सन 1963 में आगरा में उनका स्वर्गवास हो गया।

मैनपुरी प्रारंभिक शिक्षा, बसे इटावा जाकर।
एम0ए0, डी0लिट हुई आगरा, लिखा 'प्रबंध प्रभाकर'।
नवरस', 'तर्कशास्त्र', 'ठलुआ क्लब', 'कुछ उथले कुछ गहरे।
व्यवहारिक, संस्कृत गर्भित, भाषा शब्द सुनहरे।
आलोचना, व्यंग, भाषात्मक, परिचय, आत्मक और व्यंजक।
शैली के छः रूप मनोहर, क्रमशः है व्याख्यात्मक ।
बाबू जी थे प्रथम मनीषी, कलाकार आलोचक।
दर्शन के पण्डित प्रकाण्ड थे, थे उच्च व्यंग के लेखक।

वर्ण्य विषय

गुलाब राय जी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं- दार्शनिक और साहित्यिक। गुलाब राय जी की दार्शनिक रचनाएँ उनके गंभीर अध्ययन और चिंतन का परिणाम है। उन्होंने सर्व प्रथम हिंदी को अपने दार्शनिक विचारों का दान दिया। उनसे पूर्व हिंदी में इस विषय का सर्वथा अभाव था। गुलाबराय जी की साहित्यिक रचनाओं के अंतर्गत उनके आलोचनात्मक निबंध आते हैं। ये आलोचनात्मक निबंध सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार के हैं। गुलाबराय जी ने सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाकर हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

भाषा-शैली

गुलाबराय जी की भाषा शुद्ध तथा परिष्कृत खड़ी बोली है। उसके मुख्यत: दो रूप देखने को मिलते हैं - क्लिष्ट तथा सरल। विचारात्मक निबंधों की भाषा क्लिष्ट और परिष्कृत हैं। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, भावात्मक निबंधों की भाषा सरल है। उसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों की प्रधानता है साथ उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। कहावतों और मुहावरों को भी अपनाया गया है। गुलाबराय जी की भाषा आडंबर शून्य है। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी गुलाबराय जी ने अपनी भाषा में कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं किया। संक्षेप में गुलाब राय जी का भाषा संयत, गंभीर और प्रवाहपूर्ण है।

गुलाब राय जी की रचनाओं में हमें निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं-

1. विवेचनात्मक शैली- यह शैली गुलाब राय जी के आलोचनात्मक तथा विचारात्मक निबंधों में मिलती है। इस शैली में साहित्यिक तथा दार्शनिक विषयों पर गंभीरता से विचार करते समय वाक्य अपेक्षाकृत लंबे और दुरुह हो जाते हैं, किंतु जहाँ वर्तमान समस्याएँ, प्राचीन सिद्धांतों की व्याख्याएँ अथवा कवियों की व्याख्यात्मक आलोचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वहाँ वाक्य सरल और भावपूर्ण हैं। इस शैली का एक उदाहरण- 'राष्ट्रीय पर्व' का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता में संक्रामकता होती है और फिर शक्ति का संचार करती है। विचार हमारी दशा का निदर्शन कर सकते हैं, किंतु कार्य संपादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावों में ही निहित रहती है।

2. भावात्मक शैली- गुलाब राय जी की इस शैली में विचारों और भावों का सुंदर समन्वय है। यह शैली प्रभावशालीन है और इसमें गद्य काव्य का सा आनंद आता है। इसकी भाषा अत्यंत सरल है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'नर से नारायण' नामक निबंध से इस शैली का एक उदाहरण- 'सितंबर के महीने में आगरे में पानी की त्राहि-त्राहि मची थी। मैंने भी वैश्य धर्म के पालने के लिए पास के एक खेत में चरी 'बो' रखी थी। ज्वार की पत्तियाँ ऐंठ-ऐंठ कर बत्तियाँ बन गई थीं।

3. हास्य और विनोदपूर्ण शैली - गुलाब राय जी ने अपने निबंधों की नीरसता को दूर करने के लिए गंभीर विषयों के वर्णन में हास्य और व्यंग्य का पुट भी दिया है। इस विषय में उन्होंने लिखा है- 'अब मैं प्राय: गंभीर विषयों

में भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की संभावना हो अथवा अत्यंत करुण प्रसंग हो तो हास्य से बचूँगा अन्यथा मैं प्रसंग गत हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण या कोई भी अनायास आए हुए धन का।' इस शैली में हास्य का समावेश करने के लिए गुबाब राय जी या तो मुहावरों का सहारा लेते हैं या 'लेष का। इस शैली के वाक्य कुछ बड़े हैं। इसमें उर्दू, फारसी के शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है।

भारतीय डाकटिकट पर बाबू गुलाबराय

कृतियाँ

गुलाबराय जी ने मौलिक ग्रंथों की रचना के साथ-साथ अनेक ग्रंथों का संपादन भी किया है। उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं-

आलोचनात्मक रचनाएँ- नवरस, हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास हिंदी, नाट्य विमर्श, आलोचना कुसुमांजलि, काव्य के रूप, सिद्धांत और अध्ययन आदि।

दर्शनसंबंधी- कर्त्तव्य शास्त्र, तर्क शास्त्र, बौद्ध धर्म, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा।

निबंध संग्रह- प्रकार प्रभाकर, जीवन-पशु, ठलुआ क्लब, मेरी असफलताएँ, मेरे मानसिक उपादान आदि।

बाल साहित्य- विज्ञान वार्ता, बाल प्रबोध आदि।

संपादन ग्रंथ- सत्य हरिश्चंद्र, भाषा-भूषण, कादंबरी कथा-सार आदि।

इनके अतिरिक्त गुलाब राय जी की बहुत-सी स्फुट रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

कृतियाँ एवं रचना-वर्ष

शांति धर्म - 1913।
मैत्री धर्म - 1913।
कर्त्तव्य शास्त्र - 1915।
तर्क शाास्त्र - 1916।
पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास - 1917।
फिर निराशा क्यों - 1918।

नवरस - 1933।
प्रबंध प्रभाकर - 1933।
निबंध रत्नाकर - 1934।
विज्ञान विनोद - 1937।
हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास - 1940।
हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - 1943।
मेरी असफलताएँ - 1946।
सिद्धांत और अध्ययन - 1946।
काव्य के रूप - 1947।
हिंदी काव्य विमर्श - 1947।
साहित्य समीक्षा - 1947।
हिंदी नाट्य विमर्श - 1947।
भारतीय संस्कृति की रूप रेखा - 1952।
गांधीय मार्ग - 1953।
मन की बाते - 1954।
अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ - 1955।
सत्य और स्वतंत्रता के उपासक - 1955।
कुछ उथले कुछ गहरे - 1955।
मेरे निबंध - 1955।
जीवन पथ - 1954।
अध्ययन और अस्वाद - 1956।
विद्यार्थी जीवन - 1956।
हिंदी कविता और रहस्यवाद - 1956।

विरासत

आधुनिक युग के निबंध लेखकों और आलोचकों में बाबू गुलाब राय का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने आलोचना और निबंध दोनों ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा और मौलिकता का परिचय दिया है। हिंदी में सर्व प्रथम उन्होंने ही दर्शन संबंधी निबंधों की रचना की। गुलाब राय जी के निबंधों में नैतिकता का संदेश, समाज के लिए प्रगति, शील दृष्टिकोण, दर्शन के जटिल सिद्धातों की सरलतम व्याख्या और राष्ट्र प्रेम की उदात्त भावना है। एक मौलिक निबंधकार, उत्कृष्ट समालोचक

एवं सफल संपादक के रूप में गुलाब राय जी ने हिंदी की जो सेवा की है, उसके लिए वे सदैव प्रशंसा और धन्यवाद के पात्र हैं। उनके सम्मान में भारतीय डाकतार विभाग ने 22 जून 2002 को एक टिकट जारी किया जिसका मूल्य 5 रुपये था और जिस पर बाबू गुलाबराय के चित्र के साथ उनकी तीन प्रमुख पुस्तकों को भी प्रदर्शित किया गया था।

रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा (10 अक्टूबर, 1912- 30 मई, 2000) आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक, निबंधकार, विचारक एवं कवि थे। व्यवसाय से अंग्रेजी के प्रोफेसर, दिल से हिन्दी के प्रकांड पंडित और महान विचारक, ऋग्वेद और मार्क्स के अध्येता, कवि, आलोचक, इतिहासवेत्ता, भाषाविद, राजनीति-विशारद ये सब विशेषण उन पर समान रूप से लागू होते हैं।

जीवन परिचय

उन्नाव जिला के ऊँचगाँव सानी में जन्मे डॉ. रामविलास शर्मा ने लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम.ए. किया और वहीं अस्थाई रूप से अध्यापन करने लगे। 1940 में वहीं से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1943 से आपने बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा में अंग्रेजी विभाग में अध्यापन किया और अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष रहे। 1971-74 तक कन्हैयालाल माणिक मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा में निदेशक पद पर रहे। 1974 में सेवानिवृत्त हुये।

डॉ. रामविलास शर्मा के साहित्यिक जीवन का आरंभ 1934 से होता है, जब वह सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के संपर्क में आये। इसी वर्ष उन्होंने अपना प्रथम आलोचनात्मक लेख 'निरालाजी की कविता' लिखा जो चर्चित पत्रिका 'चाँद' में प्रकाशित हुआ। इसके बाद वे निरंतर सृजन की ओर उन्मुख रहे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद डॉ. रामविलास शर्मा ही एक ऐसे आलोचक के रूप में स्थापित होते हैं, जो भाषा, साहित्य और समाज को एक साथ रखकर मूल्यांकन करते हैं। उनकी आलोचना प्रक्रिया में केवल साहित्य ही नहीं होता, बल्कि वे समाज, अर्थ, राजनीति, इतिहास को एक साथ लेकर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। अन्य आलोचकों की तरह उन्होंने किसी रचनाकार का मूल्यांकन केवल लेखकीय कौशल को जाँचने के लिए नहीं किया है, बल्कि उनके मूल्यांकन की कसौटी यह होती है कि उस रचनाकार ने अपने समय के साथ कितना न्याय किया है।

प्रकाशित कृतियाँ

प्रेमचन्द (1941)।

भारतेन्दु युग (1943) परिवर्द्धित संस्करण 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा' (1975)।

निराला (1946)।

प्रेमचन्द और उनका युग (1952)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ (1985) (मूलत: 1953 में।)।

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1954)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955)।

विराम चिह्न (1957)।

आस्था और सौन्दर्य (1961)।

निराला की साहित्य साधना-1 (जीवनी-1969)।

निराला की साहित्य साधना-2 (आलोचना -1972)।

निराला की साहित्य साधना-3 (पत्राचार संग्रह एवं बृहद् भूमिका-1976)।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977)।

नयी कविता और अस्तित्ववाद (1978)।

परम्परा का मूल्यांकन (1981)।

भाषा, युगबोध और कविता (1981)।

कथा विवेचना और गद्यशिल्प (1982)।

मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य (1984)।

भाषा और समाज (1961)।

भारत की भाषा समस्या (1978, मूलत: 1965 में)।

भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (तीन खण्डों में-1979-81)।

सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति और मार्क्सवाद (1990, मूलत:1957 में)।

भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (दो खण्डों में-1982)।

स्वाधीनता संग्राम–बदलते परिप्रेक्ष्य (1992)।

मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज (1986)।

मार्क्स और पिछड़े हुए समाज (1986)।

भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद (1992)।

पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद (1994)।

भारतीय नवजागरण और यूरोप (1996)।

इतिहास दर्शन (1995)।

भारतीय साहित्य की भूमिका (1996, संगीत का इतिहास भी मूलतः इसी में है।)

भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश (दो खण्डों में-1999)।

भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास (2001, अपूर्ण)।

गाँधी, आम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ (2000)।

मेरे साक्षात्कार (1994)।

चार दिन (उपन्यास), 1936।

'तार सप्तक' में संकलित कविताएँ, 1943।

महाराजा कठपुतली सिंह(प्रहसन), 1946।

पाप के पुजारी (नाटक), 1936।

बुद्ध वैराग्य तथा प्रारम्भिक कविताएँ, 1997।

अपनी धरती अपने लोग (आत्मजीवन, तीन खण्डों में-1996)।

आज के सवाल और मार्क्सवाद (2001)।

भाषा, साहित्य और जातीयता (2012)।

मित्र संवाद (1992, केदारनाथ अग्रवाल से पत्रव्यवहार)।

अत्र कुशलं तत्रास्तु (2004, अमृतलाल नागर से पत्रव्यवहार)।

पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध- थेल्स से मार्क्स तक (2001)।

लोकजागरण और हिन्दी साहित्य

प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल (1986)।

रूप तरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि (1990, मूलतः1956)।

सदियों के सोये जाग उठे (कविता), 1998।

इनमें से अनेक पुस्तकों के संशोधित-परिवर्धित संस्करण बाद में प्रकाशित हुए हैं, उन्हें ही पढ़ना चाहिए। ये सभी पुस्तकें अब राजकमल, वाणी, किताबघर, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, साहित्य अकादेमी एवं साहित्य भंडार प्रकाशनों से प्रकाशित हैं।

ऐसे सामान्य पाठक जो प्रमुख चुनिन्दा अंशों को ही पढ़ना चाहें, उनके लिए सर्वोत्तम संकलन है 'संकलित निबन्ध' (सं.अजय तिवारी, नेशनल बुक ट्रस्ट)।

शर्मा जी पर केन्द्रित विशिष्ट साहित्य

रामविलास शर्मा का महत्त्व लेखक- रविभूषण, प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2018।

शर्मा जी पर केन्द्रित अनेक पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें उपलब्ध और विशेष पठनीय हैं -

रामविलास शर्मा - सं0-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (श्दस्तावेज' का विशेषांक, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से)।

हिन्दी के प्रहरी–डॉ. रामविलास शर्मा - सं0-विश्वनाथ त्रिपाठी, अरुण प्रकाश ('वसुधा' का विशेषांक, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

युगपुरुष रामविलास शर्मा - सं0-जय नारायण बुधवार, प्रमिला बुधवार ('कल के लिए' का विशेषांक, पुस्तक रूप में स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली से)।

उद्भावना अंक-104, नवंबर-दिसंबर 2012, रामविलास शर्मा महाविशेषांक, अतिथि संपादक- प्रदीप सक्सेना (पुस्तक रूप में रामविलास शर्मा का ऐतिहासिक योगदान, संपा. प्रदीप सक्सेना, अनुराग प्रकाशन, नयी दिल्ली से, प्र. सं.-2013)।

समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-167 (मई-जून 2013)

समग्रता में विचार करने वाले दो अति महत्त्वपूर्णध्अवश्य पठनीय आलेख-

अपने-अपने रामविलास - प्रणय कृष्ण 'जनमत' 2002 में प्रकाशितय 2012 में पुनः प्रकाशित। प्रणय कृष्ण की पुस्तक 'शती स्मरण' (स्पॉट क्रिएटिव सर्विसेज, 43 बी, लिडिल रोड, जॉर्ज टाउन, इलाहाबाद से प्रकाशित) में संकलित।,

'मैं' और 'वे' के बीच रामविलास शर्मा का ज्ञानकांड - अभय कुमार दुबे ('तद्भव'-26, अक्तूबर 2012 में प्रकाशित। वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित अभय कुमार दुबे की पुस्तक 'हिंदी में हम' में हिंदी का ज्ञानकाण्ड शीर्षक से संकलित।)

हिंदी जाति की अवधारणा

हिंदी जाति की अवधारणा रामविलास शर्मा के जातीय चिंतन का केंद्रीय बिंदु है। भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा वैश्विक साहित्य से

अन्तर्क्रिया के द्वारा रामविलास जी ने साहित्य के जातीय तत्वों की प्रगतिशील भूमिका की पहचान की है।

डॉ. रामविलास शर्मा और भारत का इतिहास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद डॉ. रामविलास शर्मा ही एक ऐसे आलोचक के रूप में स्थापित होते हैं, जो भाषा, साहित्य और समाज को एक साथ रखकर मूल्यांकन करते हैं। उनकी आलोचना प्रक्रिया में केवल साहित्य ही नहीं होता, बल्कि वे समाज, अर्थ, राजनीति, इतिहास को एक साथ लेकर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। अन्य आलोचकों की तरह उन्होंने किसी रचनाकार का मूल्यांकन केवल लेखकीय कौशल को जाँचने के लिए नहीं किया है, बल्कि उनके मूल्यांकन की कसौटी यह होती है कि उस रचनाकार ने अपने समय के साथ कितना न्याय किया है।

इतिहास की समस्याओं से जूझना मानो उनकी पहली प्रतिज्ञा हो। वे भारतीय इतिहास की हर समस्या का निदान खोजने में जुटे रहे। उन्होंने जब यह कहा कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं, तब इसका विरोध हुआ था। उन्होंने कहा कि आर्य पश्चिम एशिया या किसी दूसरे स्थान से भारत में नहीं आए हैं, बल्कि सच यह है कि वे भारत से पश्चिम एशिया की ओर गए हैं। वे लिखते हैं – ''दूसरी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व बड़े-बड़े जन अभियानों की सहस्त्राब्दी है।

इसी दौरान भारतीय आर्यों के दल इराक से लेकर तुर्की तक फैल जाते हैं। वे अपनी भाषा और संस्कृति की छाप सर्वत्र छोड़ते जाते हैं। पूँजीवादी इतिहासकारों ने उल्टी गंगा बहाई है, जो युग आर्यों के बहिर्गमन का है, उसे वे भारत में उनके प्रवेश का युग कहते हैं। इसके साथ ही वे यह प्रयास करते हैं कि पश्चिम एशिया के वर्तमान निवासियों की आँखों से उनकी प्राचीन संस्कृति का वह पक्ष ओझल रहे, जिसका संबंध भारत से है। सबसे पहले स्वयं भारतवासियों को यह संबंध समझना है, फिर उसे अपने पड़ोसियों को समझाना है।

भुखमरी, अशिक्षा, अंधविश्वास और नए-नए रोग फैलाने वाली वर्तमान समाज व्यवस्था को बदलना है। इसके लिए भारत और उसके पड़ोसियों का सम्मिलित प्रयास आवश्यक है। यह प्रयास जब भी हो, यह अनिवार्य है कि तब पड़ोसियों से हमारे वर्तमान संबंध बदलेंगे और उनके बदलने के साथ वे और हम अपने पुराने संबंधों को नए सिरे से पहचानेंगे। अतीत का वैज्ञानिक, वस्तुपरक

विवेचन वर्तमान समाज के पुनर्गठन के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।'' (पश्चिम एशिया और ऋग्वेद पृष्ठ 20)।

भारतीय संस्कृति की पश्चिम एशिया और यूरोप में व्यापकता पर जो शोधपरक कार्य रामविलासजी ने किया है, इस कार्य में उन्होंने नृतत्वशास्त्र, इतिहास, भाषाशास्त्र का सहारा लिया है। शब्दों की संरचना और उनकी उत्पत्ति का विश्लेषण कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों की भाषा का गहरा प्रभाव यूरोप और पश्चिम एशिया की भाषाओं पर है।

वे लिखते हैं - ''सन् 1786 में ग्रीक, लैटिन और संस्कृत के विद्वान विलियम जोंस ने कहा था, 'ग्रीक की अपेक्षा संस्कृत अधिक पूर्ण है। लेटिन की अपेक्षा अधिक समृद्ध है और दोनों में किसी की भी अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से परिष्कृत है।' पर दोनों से क्रियामूलों और व्याकरण रूपों में उसका इतना गहरा संबंध है, जितना अकस्मात उत्पन्न नहीं हो सकता। यह संबंध सचमुच ही इतना सुस्पष्ट है कि कोई भी भाषाशास्त्री इन तीनों की परीक्षा करने पर यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकता कि वे एक ही स्रोत से जन्मे हैं। जो स्रोत शायद अब विद्यमान नहीं है।

इसके बाद एक स्रोत भाषा की शाखाओं के रूप में जर्मन, स्लाव, केल्त आदि भाषा मुद्राओं को मिलाकर एक विशाल इंडो यूरोपियन परिवार की धारणा प्रस्तुत की गई। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान ने भारी प्रगति की है। अनेक नई-पुरानी भाषाओं के अपने विकास तथा पारस्परिक संबंधों की जानकारी के अलावा बहुत से देशों के प्राचीन इतिहास के बारे में जो धारणाएँ प्रचलित हैं, वे इसी ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की देन हैं। आरंभ में यूरोप के विद्वान मानते थे कि उनकी भाषाओं को जन्म देने वाली स्रोत भाषा का गहरा संबंध भारत से है। यह मान्यता मार्क्स के एक भारत संबंधी लेख में भी है।''

अँग्रेजों के प्रभुत्व से भारतीय जनता की मुक्ति की कामना करते हुए उन्होंने 1833 में लिखा था, ''हम निश्चयपूर्वक, न्यूनाधिक सुदूर अवधि में उस महान और दिलचस्प देश को पुनर्जीवित होते देखने की आशा कर सकते हैं, जहाँ के सज्जन निवासी राजकुमार साल्तिकोव (रूसी लेखक) के शब्दों में इटैलियन लोगों से अधिक चतुर और कुशल हैं, जिनकी अधीनता भी एक शांत गरिमा से संतुलित रहती है, जिन्होंने अपने सहज आलस्य के बावजूद अँग्रेज अफसरों को अपनी वीरता से चकित कर दिया है, जिनका देश हमारी भाषाओं, हमारे धर्मों

का उद्‌गम है और जहाँ प्राचीन जर्मन का स्वरूप जाति में, प्राचीन यूनान का स्वरूप ब्राह्मण में प्रतिबिंबित है।'' (पश्चिम एशिया और ऋग्ग्वेद पृष्ठ 21)

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी दृष्टि से भारतीय संदर्भों का मूल्यांकन करते हैं, लेकिन वे इन मूल्यों पर स्वयं तो गौरव करते ही हैं, साथ ही अपने पाठकों को निरंतर बताते हैं कि भाषा और साहित्य तथा चिंतन की दृष्टि से भारत अत्यंत प्राचीन राष्ट्र है। वे अँग्रेजों द्वारा लिखवाए गए भारतीय इतिहास को एक षड्‌यंत्र मानते हैं। उनका कहना है कि यदि भारत के इतिहास का सही-सही मूल्यांकन करना है तो हमें अपने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करना होगा। अँग्रेजों ने जान-बूझकर भारतीय इतिहास को नष्ट किया है। ऐसा करके ही वे इस महान राष्ट्र पर राज कर सकते थे। भारत में व्याप्त जाति, धर्म के अलगाव का जितना गहरा प्रकटीकरण अँग्रेजों के आने के बाद होता है, उतना गहरा प्रभाव पहले के इतिहास में मौजूद नहीं है। समाज को बाँटकर ही अँग्रेज इस महान राष्ट्र पर शासन कर सकते थे और उन्होंने वही किया भी है। सर्व प्रथम नवजागरण शब्द का प्रयोग इनके द्वारा ही 1977 में लिखे गये पुस्तक 'महाविर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में हुआ।

सम्मान

1970–'निराला की साहित्य साधना' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार।

1988–शलाका सम्मान।

1990–भारत भारती पुरस्कार।

1991–'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' के लिए व्यास सम्मान।

1999–साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता सम्मान।

2000–शताब्दी सम्मान (11 लाख रुपये)।

पुरस्कारों में प्राप्त राशियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। उन राशियों को हिन्दी के विकास में लगाने को कहा।

शताब्दी वर्ष 2012-13

2012-2013 रामविलास शर्मा का जन्म-शताब्दी वर्ष था। रामविलास शर्मा के ऊपर अपना व्याख्यान देते हुये वीर भारत तलवार ने कहा था कि

रामविलास शर्मा की मृत्यु ने हिन्दी मीडिया को झकझोर कर रख दिया था। वे कहते हैं-

रामविलास जी की मृत्यु के बाद जो हिन्दी अखबार प्रकाशित हुए, उन सबों ने मुख्य पृष्ठ पर उनकी मृत्यु के समाचार को प्रमुखता से जगह दी।3बड़ी-बड़ी सुर्खियाँ लगाई। ऐसा कि 11 सितंबर को वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर जो हमला हुआ था, उसकी भी सुर्खियां ऐसी न थी। हिन्दी के किसी अन्य साहित्यकार को यह यह सम्मान प्राप्त नहीं है। 3मुझे नहीं लगता कि पूरे हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की मृत्यु के बाद किसी और की मृत्यु के समाचार को इतनी प्रमुखता मिली होगी जितनी रामविलास जी की।

इससे हम रामविलास शर्मा की लोकप्रियता और उनके जाने से हुए क्षति दोनों का अनुमान लगा सकते हैं।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

रामस्वरूप चतुर्वेदी (1931 - 2003) हिन्दी साहित्य के उन समीक्षकों में से थे जो मुख्यत: भाषा की सृजनात्मकता को केन्द्र में रखकर समीक्षा कर्म में प्रवृत्त हुए थे।

परिचय

उनका जन्म 6 मई 1931 को हुआ था। उन्होंने आगरा से 1946 में हाईस्कूल किया, कानपुर के क्राइस्ट चर्च कॉलेज से बी.ए. की डिग्री ली और 1950 में इलाहाबाद चले गये। सन 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुए और प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त हुए। 24 जुलाई 2003 को 72 वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ। एक समीक्षक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य को कई ग्रन्थ दिये। 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' नामक कृति के लिये उन्हें 1996 का व्यास सम्मान मिला।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

जन्म–6 मई, 1931।
निधन–24 जुलाई, 2003।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

जन्म: 1931 ई. में कानपुर में। आरंभिक शिक्षा पैतृक गाँव कछपुरा (आगरा) में हुई। बी.ए. क्राइस्ट चर्च, कानपुर से। एम.ए. की उपाधि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 1952 में। वहीं हिंदी विभाग में अध्यापन (1954-1991)। डी.फिल् की उपाधि 1958 में मिली, डी.लिट् की 1972 में।

आरंभिक समीक्षापरक निबंध 1950 में प्रकाशित हुए। नयी प्रवृत्तियों से संबद्ध पत्रिकाओं का संपादन किया: 'नये पत्ते' (1952), 'नयी कविता' (1954), 'क ख ग' (1963)। शोध-त्रैमासिक 'हिंदी अनुशीलन' का संपादन (1960-1984)।

प्रकाशन: शरत् के नारी पात्र (1955), हिंदी साहित्य कोश (सहयोग में संपादित - प्रथक भाग 1958, द्वितीय भाग 1963), हिंदी नवलेखन (1960), आगरा जिले की बोली (1961), भाषा और संवेदना (1964), अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या (1968), हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ (1969), कामायनी का पुनर्मूल्यांकन (1970), मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा (1974), नयी कविताएँ: एक साक्ष्य (1976), कविता यात्रा (1976), गद्य की सत्ता (1977), सर्जन और भाषिक संरचना (1980), इतिहास और आलोचक-: दृष्टि (1982), हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास (1986), काव्यभाषा पर तीन निबंध (1989), प्रसाद-निराला-अज्ञेय (1989), साहित्य के नये दायित्व (1991), कविता का पक्ष (1994), समकालीन हिंदी साहित्य: विविध परि: ' (1995), हिंदी गद्य: विन्यास और विकास (1996), तारसप्तक से गद्यकविता (1997), भारत और पश्चिम: संस्कृति के अस्थिर संदर्भ (1999), **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** - आलोचना का अर्थ: अर्थ की आलोचना (2001), भक्ति काव्य-यात्रा (2003)।

संयुक्त संस्करण: भाषा-संवेदना और सर्जन (1996), आधुनिक कविता-यात्रा (1998)।

आलोचना: सैद्धांतिक और व्यावहारिक, भाषाशास्त्र तथा विचारों के साहित्य में विशेष रुचि।

सुषमा के साथ विवाह: 1955। तीन बेटे - विनीत (=पल्लवी), विनय (=दीपा), विवेक (=शेफाली)।

साधना तथा व्यास सम्मानः 1996

भाषा की एक विशेषता यह है कि वह सदैव गतिशील रहती है, यदि समय कभी नहीं रुकता तो भाषा भी कभी नहीं रूकती। तभी संत कबीरदास ने कहा –संसकीरत है कूपजल, भाखा बहता नीर। वस्तुतः चेतना में व्याप्त अनुभूति का भाषा के साथ अभेद संबंध है, इसे इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।..जाड़ा लगना एक बाह्य भाषिक अनुभव है, जाड़ा लग रहा है, उस बाह्य भाषिक अनुभव का अनुभव है यानि की अनुभूति है, फिर इस अनुभूति का अनुभव कवि के यहाँ कुछ इस प्रकार संभव होता है –शिशिर की शर्वरी, हिंस्र पशुओं भरी(कवि निराला)। अतः अनुभव का अनुभव, यानि कि अनुभूति या कि भाषा है और फिर भाषा और अनुभूति के अद्वैत रूप को स्वीकार करते हुए कविता या उसकी की रचना की परिभाषा इस प्रकार है –अनुभव होने के अनुभव होने का अनुभव कविता है। भाषा में मानव जीवन के विविध, अनुभव संचित होते हैं यह मनुष्य का आदिसर्जन है, संसार का कोई अनुभव जब चेतना में बिम्बित होता है तो भी भाषा के साथ होता है और सृजित होता है तो भी भाषा के साथ। काव्य या कि साहित्य भाषा के आधार पर ही स्थिर होता है। अन्य कलाओं की तुलना में साहित्य रंग या की सुर की बजाय भाषा होने के कारण अपनी प्रकृति में बौद्धिक अधिक है।

वहाँ विचार और अनुभव एक दूसरे में डूब जाते हैं, जबकि अन्य कलाओं जैसे –संगीत, चित्र या मूर्तिकला में प्रधानता अनुभव की है। विचार और अनुभूति की संश्लिष्टता भाषा की विशेषता है, इसीलिए साहित्य भाषा में रचा जाता है। विचार और अनुभूति के संश्लेष से साहित्य या किसी काव्य में अर्थ की सृष्टि होती है। इस प्रकार साहित्य में अर्थ की विकसनशील प्रक्रिया चलती रहती है, जो देशकाल व व्यक्ति को छूती रहती है। सुनिश्चित प्रतिमानों या किसी पैमानों के सहारे चाहे वे पुराने हों या नए कविता की निरंतर विकसनशील प्रक्रिया को समझा/समझाया नहीं जा सकता है। प्रतिमानों के आधार पर कविता लिखी नहीं जाती तो समझी भी नहीं जाती, वस्तुतः कविता को समझना उसकी रचना प्रक्रिया का ही विस्तार है और कविता के अर्थ विस्तार की यह प्रक्रिया संभव करना ही आलोचक का प्रधान कर्म है। किसी आलोचक का जब किसी कविता से साक्षात्कार होता है तो प्रथम अनुभव भाषा से होता है फिर भाषा के सहारे उसके अर्थ का बोध करता है यह द्वितीयक अनुभव या कि काव्यानुभव का अनुभव है और फिर अर्थ के सहारे कविता के आधार पर अनुभव को ग्रहण

करता है, यह द्वितीयक अनुभव का अनुभव या किसी काव्यानुभव के अनुभव का अनुभव है और यही आलोचना है, जिसमें रचना का अर्थविस्तार स्वतः होता रहता है। इस प्रकार काव्य रचना और आलोचना में एक दृष्टिगत सामंजस्य होता है। जहाँ रचना यदि जीवन का अर्थविस्तार है तो आलोचना उस रचना का अर्थविस्तार है। रामस्वरूप चतुर्वेदी–काव्यानुभव के अनुभव का यही मर्म है, जहाँ कविता को समझने के लिए कविता की समझ जरुरी है न कि किसी विचारधारा की। अधिकतर विचारधारा के आग्रही आलोचक कविता में निहित अनुभव और अर्थ का विस्तार करने की बजाय स्वयं अपनी अपनी विचारधारा का अर्थविस्तार देते हैं, जो कि कविता या कि साहित्य के लिए हानिकर है

कृतियाँ

उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. हिन्दी नवलेखन (1960),
2. भाषा और संवेदना (1964),
3. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या (1968),
4. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां (1969),
5. कामायनी का पुनर्मूल्ध्यांकन (1970),
6. मध्यकालीन हिन्दी काव्ध्यभाषा (1974),
7. कविता यात्रा, रत्नाकर से अज्ञेय तक (1976),
8. सर्जन और भाषिक संरचना (1980),
9. इतिहास और आलोचक दृष्टि (1982),
10. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास (1986),
11. काव्यभाषा पर तीन निबंध (1989),
12. प्रसाद, निराला, अज्ञेय (1989),
13. कविता का पक्ष (1994),
14. हिन्दी गद्यः विन्यास और विकास (1996),
15. आधुनिक कविता यात्रा (1998),
16. आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना का अर्थ और अर्थ की आलोचना (2001)।
17. भक्तिकाव्य यात्रा (2002)।

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती (25 दिसंबर, 1926- 4 सितंबर, 1997) आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख लेखक, कवि, नाटककार और सामाजिक विचारक थे। वे एक समय की प्रख्यात साप्ताहिक पत्रिका धर्मयुग के प्रधान संपादक भी थे।

डॉ धर्मवीर भारती को 1972 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। उनका उपन्यास गुनाहों का देवता सदाबहार रचना मानी जाती है। सूरज का सातवां घोड़ा को कहानी कहने का अनुपम प्रयोग माना जाता है, जिस पर श्याम बेनेगल ने इसी नाम की फिल्म बनायी, अंधा युग उनका प्रसिद्ध नाटक है।। इब्राहीम अलकाजी, राम गोपाल बजाज, अरविन्द गौड़, रतन थियम, एम के रैना, मोहन महर्षि और कई अन्य भारतीय रंगमंच निर्देशकों ने इसका मंचन किया है।

जीवन परिचय

धर्मवीर भारती का जन्म 25 दिसंबर 1926 को इलाहाबाद के अतर सुइया मुहल्ले में हुआ। उनके पिता का नाम श्री चिरंजीव लाल वर्मा और माँ का श्रीमती चंदादेवी था। स्कूली शिक्षा डी. ए वी हाई स्कूल में हुई और उच्च शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में। प्रथम श्रेणी में एम ए करने के बाद डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में सिद्ध साहित्य पर शोध-प्रबंध लिखकर उन्होंने पी-एच0डी0 प्राप्त की।

घर और स्कूल से प्राप्त आर्यसमाजी संस्कार, इलाहाबाद और विश्वविद्यालय का साहित्यिक वातावरण, देश भर में होने वाली राजनैतिक हलचलें, बाल्यावस्था में ही पिता की मृत्यु और उससे उत्पन्न आर्थिक संकट इन सबने उन्हें अतिसंवेदनशील, तर्कशील बना दिया। उन्हें जीवन में दो ही शौक थे–अध्ययन और यात्रा। भारती के साहित्य में उनके विशद अध्ययन और यात्रा-अनुभवों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है–

जानने की प्रक्रिया में होने और जीने की प्रक्रिया में जानने वाला मिजाज जिन लोगों का है, उनमें मैं अपने को पाता हूँ। (ठेले पर हिमालय)

उन्हें आर्यसमाज की चिंतन और तर्कशैली भी प्रभावित करती है और रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत। प्रसाद और शरत्चन्द्र का साहित्य उन्हें विशेष प्रिय था। आर्थिक विकास के लिए मार्क्स के सिद्धांत उनके आदर्श थे परंतु मार्क्सवादियों की अधीरता और मताग्रहता उन्हें अप्रिय थे। 'सिद्ध साहित्य'

उनके शोध' का विषय था, उनके सटजिया सिद्धांत से वे विशेष रूप से प्रभावित थे। पश्चिमी साहित्यकारों में शीले और आस्करवाइल्ड उन्हें विशेष प्रिय थे। भारती को फूलों का बेहद शौक था। उनके साहित्य में भी फूलों से संबंधित बिंब प्रचुरमात्रा में मिलते हैं।

आलोचकों में भारती जी को प्रेम और रोमांस का रचनाकार माना है। उनकी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों में प्रेम और रोमांस का यह तत्त्व स्पष्ट रूप से मौजूद है, परंतु उसके साथ-साथ इतिहास और समकालीन स्थितियों पर भी उनकी पैनी दृष्टि रही है, जिसके संकेत उनकी कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों, आलोचना तथा संपादकीयों में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। उनकी कहानियों-उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ के चित्रा हैं 'अंधा युग' में स्वातंत्रयोत्तर भारत में आई मूल्यहीनता के प्रति चिंता है। उनका बल पूर्व और पश्चिम के मूल्यों, जीवन-शैली और मानसिकता के संतुलन पर है, वे न तो किसी एक का अंधा विरोध करते हैं न अंधा समर्थन, परंतु क्या स्वीकार करना और क्या त्यागना है। इसके लिए व्यक्ति और समाज की प्रगति को ही आधार बनाना होगा–

पश्चिम का अंधानुकरण करने की कोई जरूरत नहीं है, पर पश्चिम के विरोध के नाम पर मध्यकाल में तिरस्कृत मूल्यों को भी अपनाने की जरूरत नहीं है।

उनकी दृष्टि में वर्तमान को सुधारने और भविष्य को सुखमय बनाने के लिए आम जनता के दु:ख दर्द को समझने और उसे दूर करने की आवश्यकता है। दु:ख तो उन्हें इस बात का है कि आज 'जनतंत्र' में 'तंत्र' शक्तिशाली लोगों के हाथों में चला गया है और 'जन' की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। अपनी रचनाओं के माध्यम से इसी 'जन' की आशाओं, आकांक्षाओं, विवशताओं, कष्टों को अभिव्यक्ति देने का प्रयास उन्होंने किया है।

कार्यक्षेत्र–अध्यापन। 1948 में 'संगम' सम्पादक श्री इलाचंद्र जोशी में सहकारी संपादक नियुक्त हुए। दो वर्ष वहाँ काम करने के बाद हिन्दुस्तानी अकादमी में अध्यापक नियुक्त हुए। सन् 1960 तक कार्य किया। प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापन के दौरान 'हिंदी साहित्य कोश' के सम्पादन में सहयोग दिया। निकष' पत्रिका निकाली तथा 'आलोचना' का सम्पादन भी किया। उसके बाद 'धर्मयुग' में प्रधान सम्पादक पद पर बम्बई आ गये।

1997 में डॉ. भारती ने अवकाश ग्रहण किया। 1999 में युवा कहानीकार उदय प्रकाश के निर्देशन में साहित्य अकादमी दिल्ली के लिए डॉ. भारती पर एक वृत्त चित्र का निर्माण भी हुआ है।

अलंकरण तथा पुरस्कार

1972 में पद्मश्री से अलंकृत डा धर्मवीर भारती को अपने जीवन काल में अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए, जिसमें से प्रमुख हैं–

1984 हल्दी घाटी श्रेष्ठ पत्रकारिता पुरस्कार।

महाराणा मेवाड़ फाउंडेशन 1988।

सर्वश्रेष्ठ नाटककार पुरस्कार संगीत नाटक अकादमी दिल्ली 1989।

भारत भारती पुरस्कार उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान 1990।

महाराष्ट्र गौरव, महाराष्ट्र सरकार 1994।

व्यास सम्मान के बिड़ला फाउंडेशन।

प्रमुख कृतियां

कहानी संग्रह–मुर्दों का गाँव, स्वर्ग और पृथ्वी, चाँद और टूटे हुए लोग, बंद गली का आखिरी मकान, साँस की कलम से, समस्त कहानियाँ एक साथ।

काव्य रचनाएं–ठंडा लोहा, सात गीत वर्ष, कनुप्रिया, सपना अभी भी, आद्यन्त।

उपन्यास– गुनाहों का देवता, सूरज का सातवां घोड़ा, ग्यारह सपनों का देश, प्रारंभ व समापन।

निबंध–ठेले पर हिमालय, पश्यंती।

एकांकी व नाटक –नदी प्यासी थी, नीली झील, आवाज का नीलाम आदि।

पद्य नाटक–अंधा युग।

आलोचना–प्रगतिवाद–एक समीक्षा, मानव मूल्य और साहित्य।

भाषा123।

परिमार्जित खड़ीबोलीय मुहावरों, लोकोक्तियों, देशज तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग।

शैली

भावात्मक, वर्णनात्मक, शब्द चित्रात्मक आलोचनात्मक हास्य व्यंग्यात्मक।

नामवर सिंह

नामवर सिंह (जन्म: 28 जुलाई 1926 बनारस, उत्तर प्रदेश निधन: 19 फरवरी 2019, नयी दिल्ली) हिन्दी के शीर्षस्थ शोधकार-समालोचक, निबन्धकार तथा मूर्द्धन्य सांस्कृतिक-ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्य रहे। अत्यधिक अध्ययनशील तथा विचारक प्रकृति के नामवर सिंह हिन्दी में अपभ्रंश साहित्य से आरम्भ कर निरन्तर समसामयिक साहित्य से जुड़े हुए आधुनिक अर्थ में विशुद्ध आलोचना के प्रतिष्ठापक तथा प्रगतिशील आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर थे।

जीवन

नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1926 ई0 को बनारस (वर्तमान में चंदौली जिला) के एक गाँव जीयनपुर में हुआ था। लम्बे समय तक 1 मई 1927 को उनकी जन्म-तिथि के रूप में माना जाता रहा है और नामवर जी स्वयं भी अपना जन्म-दिवस इसी तारीख को मनाते रहे हैं, लेकिन यह वस्तुत: स्कूल में नामांकन करवाते वक्त लिखवायी गयी तारीख थी। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एम0ए0 व पी-एच0डी0 करने के पश्चात् काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया लेकिन 1959 में चकिया चन्दौली के लोकसभा चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार रूप में चुनाव लड़ने तथा असफल होने के बाद उन्हें बी.एच.यू छोड़ना पड़ा। बी.एच.यू के बाद डॉ0 नामवर सिंह ने क्रमश: सागर विश्वविद्यालय और जोधपुर विश्वविद्यालय में भी अध्यापन किया। बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उन्होंने काफी समय तक अध्यापन कार्य किया। अवकाश प्राप्त करने के बाद भी वे उसी विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में इमेरिट्स प्रोफेसर रहे। वह हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बाॅंला एवं संस्कृत भाषा भी जानते थे। 19 फरवरी 2019 की रात्रि में नयी दिल्ली स्थित एम्स में उनका निधन हो गया। उन्होंने हिन्दी आलोचना को नयी पहचान दिलाई। वह वास्तव में नामवर आलोचक थे।

प्रकाशित कृतियाँ

बकलम खुद - 1951ई0 (व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का यह संग्रह लम्बे समय तक अनुपलब्ध रहने के 2013 ई0 में भारत यायावर के सम्पादन में आयी पुस्तक प्रारम्भिक रचनाएँ में नामवर जी की उपलब्ध कविताओं तथा विविध विधाओं की गद्य रचनाओं के साथ संकलित होकर पुनः सुलभ हो गया है।)

शोध-

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - 1952 (पुनर्लिखित रूप में 1954 ई.)।
2. पृथ्वीराज रासो की भाषा - 1956 (संशोधित संस्करण 'पृथ्वीराज रासोरू भाषा और साहित्य')।

आलोचना-

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - 1954।
छायावाद - 1955।
इतिहास और आलोचना - 1957।
कहानी–नयी कहानी - 1964।
कविता के नये प्रतिमान - 1968।
दूसरी परम्परा की खोज - 1982।
वाद विवाद संवाद - 1989।

साक्षात्कार

कहना न होगा - 1994।
बात बात में बात - 2006।

पत्र-संग्रह

काशी के नाम - 2006।

व्याख्यान

आलोचक के मुख से - 2005।

सम्पादित शृंखला की आठ नयी पुस्तकें-

आशीष त्रिपाठी के सम्पादन में आयीं आठ पुस्तकों में क्रमशः दो लिखित की हैं, दो लिखित और वाचिक की, दो वाचिक की तथा दो साक्षात्कार एवं संवाद की–

कविता की जमीन और जमीन की कविता - 2010।

हिन्दी का गद्यपर्व - 2010।

प्रेमचन्द और भारतीय समाज - 2010।

जमाने से दो-दो हाथ - 2010।

साहित्य की पहचान - 2012।

आलोचना और विचारधारा - 2012।

सम्मुख - 2012।

साथ-साथ - 2012।

वर्ष 2018 में उनकी पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जो उनके अबतक के अप्रकाशित एवं असंकलित लेखन पर आधारित थीं।

आलोचना और संवाद

पूर्वरंग,

द्वाभा,

छायावादः प्रसाद, निराला, महादेवी और पंत।

रामविलास शर्मा

इनके अतिरिक्त नामवर जी के जे.एन.यू के क्लास नोट्स भी उनके तीन छात्रों -- शैलेश कुमार, मधुप कुमार एवं नीलम सिंह के सम्पादन में नामवर के नोट्स नाम से प्रकाशित हुए हैं।

नामवर जी का अब तक का सम्पूर्ण लेखन तथा उपलब्ध व्याख्यान भी इन पुस्तकों में शामिल है। नब्बे वर्ष की अवस्था पूर्ण करने के अवसर पर प्रकाशित दो पुस्तकें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जययात्रा तथा हिन्दी समीक्षा और आचार्य शुक्ल वस्तुतः पूर्व प्रकाशित सामग्रियों का ही एकत्र प्रस्तुतिकरण है।

सम्पादन कार्य

अध्यापन एवं लेखन के अलावा उन्होंने 1965 से 1967 तक जनयुग (साप्ताहिक) और 1967 से 1990 तक आलोचना (त्रैमासिक) नामक दो हिन्दी पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया।

सम्पादित पुस्तकें

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो - 1952 (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ)

पुरानी राजस्थानी - 1955 (मूल लेखक- डॉ0 एल.पी.तेस्सितोरीय अनुवादक - नामवर सिंह)

चिन्तामणि भाग-3 (1983)

कार्ल मार्क्स–कला और साहित्य चिन्तन (अनुवादक- गोरख पांडेय)

नागार्जुन–प्रतिनिधि कविताएँ

मलयज की डायरी (तीन खण्डों में)

आधुनिक हिन्दी उपन्यास भाग-2

रामचन्द्र शुक्ल रचनावली (सह सम्पादक - आशीष त्रिपाठी)

इनके अलावा स्कूली कक्षाओं के लिए कई पुस्तकें तथा कुछ अन्य पुस्तकें भी सम्पादित।

नामवर जी पर केन्द्रित साहित्य

आलोचक नामवर सिंह (1977) - सं0 रणधीर सिन्हा

'पहल' का विशेषांक - अंक-34, मई 1988 ई0 - सं0-ज्ञानरंजन, कमला प्रसाद (यह विशेषांक पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ , परन्तु लम्बे समय से अनुपलब्ध है।) इसके अलावा पूर्वग्रह (अंक-44-45, 1981ई0) तथा दस्तावेज (अंक-52, जुलाई-सितंबर, 1991) के अंक भी नामवर जी पर ही केन्द्रित थे।

नामवर के विमर्श (1995) - सं0-सुधीश पचौरी (पहल, पूर्वग्रह, दस्तावेज आदि के नामवर जी पर केन्द्रित विशेषांकों में से कुछ चयनित आलेखों के साथ कुछ और नयी सामग्री जोड़कर तैयार पुस्तक)।

नामवर सिंह–आलोचना की दूसरी परम्परा (2002) - सं0- कमला प्रसाद, सुधीर रंजन सिंह, राजेंद्र शर्मा - 'वसुधा' का विशेषांक (अंक-54, अप्रैल-जून 2002, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन से)।

आलोचना के रचना पुरुष–नामवर सिंह (2003) - सं0 भारत यायावर (पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन से)।

नामवर की धरती (2007) - लेखक - श्रीप्रकाश शुक्ल (आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा)।

जे.एन.यू में नामवर सिंह (2009) - सं0 सुमन केसरी।

'पाखी' का विशेषांक (अक्टूबर 2010) - सं0 प्रेम भारद्वाज (पुस्तक रूप में नामवर सिंह–एक मूल्यांकन नाम से सामयिक प्रकाशन से)।

'बहुवचन' का विशेषांक (अंक-50, जुलाई-सितंबर 2016) - 'हिन्दी के नामवर' शीर्षक से (पुस्तक रूप में अनन्य प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली से)।

महत्त्वपूर्ण कार्य

नामवर सिंह महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति (चांसलर) होने से पहले राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष (1993-96) भी रह चुके हैं।

सम्मान

1. साहित्य अकादमी पुरस्कार - 1971 'कविता के नये प्रतिमान' के लिए।
2. शलाका सम्मान हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से।
3. 'साहित्य भूषण सम्मान' उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की ओर से।
4. शब्दसाधक शिखर सम्मान - 2010 (श्पाखी' तथा इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसायटी की ओर से)।
5. महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्मान - 21 दिसम्बर 2010।

❐❐❐